रवीन्द्रनाथ

शिक्षा

शिक्षा

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली-७

संस्करण : 1986
© : सन्मार्ग प्रकाशन

प्रकाशक : सन्मार्ग प्रकाशन
16, यू० बी० बैंग्लो रोड, दिल्ली-110007
मूल्य : 20.00
मुद्रक : प्रिंट आर्ट, नई दिल्ली-28

दो शब्द

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की ख्याति यद्यपि यशस्वी साहित्यकार के ही नाते अधिक है किन्तु जिन लोगों ने उनके जीवन और कृतित्व का भली प्रकार अध्ययन किया है वे जानते हैं कि वे साहित्यकार से कहीं बढ़कर शिक्षा-शास्त्री थे और इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है, उन द्वारा संस्थापित विश्वभारती शान्ति-निकेतन। विश्वभारती संस्था का आयोजन आधुनिक युग में बिलकुल मौलिक ढंग का है। उसके आयोजन में जैसा विचार है, जैसा चिन्तन है, वैसा रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसा शिक्षा-शास्त्र का मर्मज्ञ, भारत दश की परिस्थितियों, आवश्यकताओं और परम्पराओं का ज्ञाता ही कर सकता है।

शिक्षा सम्बन्धी अनेक प्रश्न आज देश के कर्णधारों और शिक्षा-शास्त्रियों के सामने हैं, बल्कि यों कहें कि अपेक्षाकृत जटिलता के साथ तो असत्य न होगा।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की, इस पुस्तक में प्रकाशित शिक्षा-सम्बन्धी मन्तव्य यद्यपि काफी पुराने हैं, परन्तु मजे की बात यह है कि आज भी वे हमारा मार्ग-दर्शन कर सकते हैं, शायद पहले की अपेक्षा कहीं अधिक।

स्वतन्त्र भारत में शिक्षा-प्रणाली क्या हो? शिक्षा में परीक्षा को कितना महत्त्व दिया जाए? और अंग्रेजी शिक्षा रहे या न रहे आदि प्रश्न जो आज हमारे सामने विकट रूप में खड़े हैं, उनके समाधान के लिए मनीषी रवीन्द्रनाथ ठाकुर के ये विचार अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होंगे, इस विश्वास के साथ यह अनुवाद प्रस्तुत है।

क्रम

शिक्षा प्रणाली	५
शिक्षा और परीक्षा	३७
अंग्रेजी की शिक्षा	४९
प्रकृति और बालक	७०

हम पाठशालाओं को शिक्षा देने की एक प्रकार की कल या कारखाना समझते हैं। अध्यापक लोग इस कारखाने के एक प्रकार के पुर्जे हैं। साढ़े दस बजे या दस बजे घंटा बजाकर कारखाने खुलते हैं। पुर्जों का चलना आरम्भ हो जाता है और अध्यापकों की जबान भी चलने लगती है। चार बजे कारखाने बन्द हो जाते हैं। पुर्जे अर्थात् अध्यापक भी अपनी जबान बन्द कर लेते हैं। उस समय विद्यार्थी भी इन पुर्जों को कटी-छटी दो-चार पृष्ठ की शिक्षा लेकर अपने-अपने घरों को वापस चले जाते हैं। इसके पश्चात् परीक्षा के समय विद्यार्थी की बुद्धि का अनुमान लगाया जाता है। अतः इस पर 'मार्क' अथवा नम्बर लगा दिये जाते हैं।

कारखानों या मशीनों में एक बड़ी विशेषता यह हुआ करती है कि जिस नाप या वजन की अथवा जिस प्रकार की वस्तु की आज्ञा दी जाती है, ठीक उसी प्रकार की वस्तु तैयार हो जाती है। एक कारखाने में बने हुए सामान में और दूसरे कारखाने में बने हुए सामान में विशेष अन्तर नहीं होता और इससे नम्बर लगाने में बड़ी सुगमता रहती है।

परन्तु एक मनुष्य की दूसरे मनुष्य से तुलना नहीं की जा सकती। प्रत्येक दो मनुष्यों में बड़ा अन्तर होता है। यहां तक कि एक ही मनुष्य का एक दिन, उसी के दूसरे दिन से मेल नहीं खाता। इसके अतिरिक्त मनुष्य जो कुछ दूसरे मनुष्य से पा सकता है, वह स्वयं प्राप्त नहीं कर सकता। कारखाना किसी वस्तु को सामने तो रख देता है परन्तु उठा कर दे नहीं सकता।

वह तेल तो दे सकता है परन्तु दिये को जला देना उसके बस की बात नहीं।

योरुप की स्थिति हमारे देश से बिल्कुल भिन्न है। वहाँ मनुष्य सभा-सोसायटियों में रहकर मनुष्य बन सकता है। विद्यालय तथा महाविद्यालय उसे केवल थोड़ी-सी सहायता देते हैं। वहाँ के रहने वाले जो शिक्षा प्राप्त करते हैं, वह उनकी सामाजिक स्थिति से भिन्न नहीं होती। वह सामाजिक जीवन का अंग है और उसमें फूलती-फलती है। उनकी जाति में वह विभिन्नों रूपों व विचारों में विद्यमान रहती है। लिखने-पढ़ने तथा बोलने-सुनने में अथवा व्यवहार में सदा उसका प्रयोग होता रहता है। वहाँ जाति ने धीरे-धीरे घटनाओं अथवा व्यक्तियों द्वारा जो कुछ प्राप्त तथा ग्रहण किया है और जिसे अपनी सम्पत्ति बना लिया है, उसी को पाठशालाओं अथवा महाविद्यालयों में बिठाकर बच्चों के आगे परोस देते हैं अर्थात् उनके आगे रख देने का एक साधन बना दिया है। इससे अधिक और कुछ नहीं।

यही कारण है कि वहाँ की पाठशालाएँ उनके जातीय जीवन से सम्बन्धित हैं। यह जाति की मिट्टी से ही रस चूसती हैं और जाति को ही फल देती हैं। परन्तु जहाँ पाठशालाएँ चारों ओर से जाति के साथ इस प्रकार एक होकर नहीं मिल सकतीं और जाति के साथ केवल बाहरी रूप से चिपकी रहती हैं, वहाँ वह सदा सूखी और जीवन-रहित बनी रहती हैं। हमारे देश की स्थिति ठीक इसी प्रकार है। उनसे हम जो कुछ प्राप्त करते हैं, वह हम बड़ी कठिनता तथा परिश्रम से पाते हैं और वहाँ प्राप्त की हुई शिक्षा ऐसी होती है कि प्रयोग के समय उसका कुछ भी लाभ नहीं होता। दस बजे से लेकर चार बजे तक जो कुछ हम कंठस्थ करते हैं, जो कुछ पढ़ते हैं, उसके जीवन

के साथ, और मनुष्य के साथ तथा घर के साथ कुछ भी सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। घरों में माता-पिता, सम्बन्धी, मित्र आदि जो कुछ बात-चीत करते हैं और जिन विषयों पर वार्ता होती है, हमारी पाठशालाओं की शिक्षा के साथ उनका कोई मेल नहीं होता बल्कि कई बार उनमें बहुत भेद पाया जाता है। ऐसी स्थिति में हमारी पाठशाला एक प्रकार के इंजन हैं। वह भिन्न वस्तुओं को आपस में जोड़ अवश्य सकते हैं परन्तु उनमें जीवन नहीं डाल सकते। हमें उनसे निर्जीव शिक्षा मिलती है।

इसलिये कहते हैं कि योरुप के विद्यालयों की ज्यों की त्यों ऊपर-ऊपर की नकल कर लेने से ही यह न समझ लेना चाहिये कि हमने वैसे ही विद्यालय बना लिए हैं जैसे कि योरुप में हैं। उसकी नकल में वैसे ही बेंच, वैसी ही कुर्सियाँ, वैसी ही मेजें और वैसे ही कार्यक्रम मिल अवश्य सकते हैं—उनमें अंतर कोई नहीं होता—परन्तु हमारे लिये यह बाहरी दिखावे की वस्तुएँ केवल एक प्रकार के बोझ हैं।

पिछले समय में जब हम गुरुजनों से शिक्षा ग्रहण करते थे न कि अध्यापकों से। अर्थात् मनुष्यों से शिक्षा प्राप्त करते थे न कि कलों से, तो उस समय न तो हमारी शिक्षा के विषय इतने लम्बे-चौड़े होते थे और न उस समय की हमारी जाति में प्रचलित रीति-रिवाज हमारी पाठ्य-शिक्षा से भिन्न होते थे। परंतु यदि हम बिल्कुल वही समय आज फिर यहाँ लाना चाहें और इसके लिये चेष्टा करें तो यह भी एक प्रकार की नकल होगी। उसका बाहरी सामान और प्रबन्ध केवल बोझ हो जाएगा—जरा भी लाभदायक प्रमाणित नहीं होगा।

इसलिये यदि हम अपनी वर्तमान आवश्यकताओं को भलीभांतिसमझते हों तो हमें ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए कि हमारी पाठशालाएँ घर का काम दे सकें। पढ़ाई के विभिन्न विषयों के

बारे में जानकारी के साथ-साथ शिक्षा की रीतियों का भी आनन्द प्राप्त हो सके। शिक्षकों को चाहिए कि पाठ्य-शिक्षा देने तथा विद्यार्थियों के दिलों को सुधारने के दोनों भार अपने ऊपर ले लें। हमें देखना होगा कि हमारे देश में पाठशालाओं में और चारों ओर के वातावरण में जो भिन्नता है, उसे देखकर विद्यार्थी के मन पर कोई बुरा प्रभाव न पड़े। और इस प्रकार की शिक्षा केवल दिन में कुछ घण्टों के लिये बिल्कुल स्वतन्त्र होकर, वास्तविकता से दूर रह जाने के कारण एक अधिक कठिनाई से पचने वाली वस्तु न बन जाये।

विदेशों में पाठशालाओं तथा महाविद्यालयों के साथ ही घर या छात्रावास भी हुआ करते हैं। भारत में भी अब उनकी नकल होने लगी है, परन्तु इस प्रकार की पाठशालाओं को एक प्रकार की बार्कें, पागलखाने, हस्पताल या बन्दीगृह ही समझना चाहिए।

इसलिए विदेशों की नकल करने से हमें विशेष लाभ नही होगा। उन्हें छोड़ ही देना पड़ेगा, कारण यह है कि इंगलेंड, उसका इतिहास तथा अंग्रेज जाति हमारी नहीं है। हम में और उनमें बड़ा अंतर है। हमें सब से पहले उन बातों पर विचार करना होगा कि किस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली युगों से भारत के लोगों के दिलों को जीतती रही है और उनमें जीवन का रक्त कैसे फैल सकेगा।

परन्तु हम यह समझ नहीं सकते क्योंकि हमने अंग्रेजी स्कूलों में शिक्षा ग्रहण की है। हम जिस ओर देखते हैं, उसी ओर अंग्रेजों के उदाहरण हमारे सम्मुख आ जाते हैं और उसी आड़ में उसके पर्दे में हमारे देश का इतिहास, हमारी जाति का दिल, सब छिप जाते हैं—सामने नहीं आते। जब हम यह बात सामने रखकर—निश्चय करके तैयार होते हैं कि हम राष्ट्रीय

झंडे को ऊंचा करके स्वतन्त्रता से कार्य करेंगे तो उस समय भी विदेशों की पेटी, बेड़ी बनकर हमें बाँध लेती है। हमें अपने प्रभाव से बाहर हिलने-डुलने तक नहीं देती।

हमारे लिए सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि हम अंग्रेजी शिक्षा और पाठशालाओं के साथ-साथ अंग्रेजी समाज को अर्थात् वहाँ की शिक्षा और पाठशालाओं को अपने-अपने उचित स्थान पर नहीं देख सकते। हम उस जीवित दुनिया के साथ मिलना नहीं जानते। और इसीलिए हमें यह भी पता नहीं कि विदेशी स्कूलों की नकल जो हमारी पाठशालाओं में विद्यमान है, उसे अपने जीवन के साथ कैसे मिलाना चाहिये। और इसी बात की जानकारी सबसे आवश्यक है। विदेशों के किस महाविद्यालय में कौन-सी पुस्तक पढ़ाई जाती है और किस महाविद्यालय में क्या-क्या नियम प्रचलित हैं—केवल इन्हीं बातों का विषय बनाकर आपस में बहस करते हुए समय बिता देना उचित नहीं। सच तो यह है कि इससे समय नष्ट होता है।

इसके बारे में हमारे अन्दर एक अन्ध-विश्वास बैठ गया है। जिस प्रकार तिब्बत के रहने वालों का यह विचार है कि मन्त्र लिखे हुए चक्कर या पहिए को एक नौकर द्वारा चलाने से बड़ा पुण्य मिलता है, इसी प्रकार हम भी यह समझते हैं कि किसी भाँति एक सभा या समाज की स्थापना करके यदि वह एक कार्य-कारिणी सभा कुछ व्यक्तियों द्वारा चलाई जाये तो हमें अपने आदर्शों में सफलता प्राप्त हो जायगी। अर्थात् समाज की स्थापना कर लेने से ही सब बातें सिद्ध हो जाती हैं। कई वर्षों से हमने एक वैज्ञानिक सभा बना रखी है। उस समय से लेकर हम निरन्तर चिल्लाते रहते हैं कि हमारे देशवासियों का विज्ञान के विषय में जरा भी ध्यान नहीं है। परन्तु एक वैज्ञानिक संस्था बना लेना और बात है और भारतीयों के दिलों को वैज्ञानिक

शिक्षा की ओर आकर्षित करना सर्वथा दूसरी बात है। संस्था में पाँव रखते ही लोग विज्ञान के ज्ञाता अथवा पण्डित नहीं बन सकते।

वास्तविक बात यह है कि पहले तो हमें मनुष्य के दिल को पाना चाहिए। जब हमें यह प्राप्त हो जाएगा, उसी समय हमारी सब चेष्टाएँ तथा युक्तियां सफल हो सकती हैं। हमें इस बात पर भली प्रकार विचार करना चाहिए कि जब भारत में अपनी स्वदेशी शिक्षा-प्रणाली प्रचलित थी, उस समय मनुष्य का मन किस प्रकार जीता जाता था। विदेशी विश्वविद्यालयों के कैलेंडर उनका रस निकालने के लिए उन पर पेंसिल के साथ लकीरें मारने से हम आपको मना नहीं करना चाहते। परन्तु हम यह कहे बिना भी नहीं रह सकते कि यह विषय भी कुछ कम विचारणीय तथा अनावश्यक नहीं है। यह बात अवश्य विचारणीय है कि पाठशालाओं में क्या सिखाना चाहिये, परन्तु इससे कहीं अधिक यह सोचना चाहिए कि जिनको शिक्षा देनी है, उनके दिल का सुधार तथा सिखाई किस प्रकार की जा सकती है। भारत के गुरुकुल सुदूर आबादी से परे, वनों तथा तपोवनों में हुआ करते थे। यद्यपि इस समय उन तपोवनों की साफ-साफ छाया हमारे सामने नहीं आती, हम उनकी जीवित आकृति नहीं देख सकते—वह बहुत-सी असाधारण दीख पड़ने वाली बातों की आड़ में हमारी निगाह से ओझल हो गई हैं, परन्तु फिर भी इस में कोई संदेह नहीं हो सकता कि किसी न किसी समय वे विद्यमान अवश्य थे।

जिस समय ये आश्रम विद्यमान थे, उस समय उनकी वास्तविक रूप-रेखा क्या थी? इस प्रश्न पर हम वार्तालाप नहीं करना चाहते परन्तु यह सत्य है कि इन आश्रमों के वासी घर के स्वामी समझे जाते थे और उनके चेले पुत्रों की भाँति उनकी

सेवा करके उनसे शिक्षा ग्रहण करते थे। भारत में कहीं-कहीं विशेषत: बंगाल आदि प्रान्तों में पुरातन ढंग की संस्कृत पाठशालाओं में आज भी किसी सीमा तक वही आकृति दिखाई पड़ती है।

इन पाठशालाओं को देखने पर यह विदित हो जायगा कि उनमें केवल पुस्तकें पढ़ना ही शिक्षा का सबसे आवश्यक भाग नहीं समझा जाता। वहाँ चारों ओर सिखाई तथा पढ़ाई की वायु चलती है। स्वयं गुरु अथवा अध्यापक भी वहां अपना लिखना-पढ़ना लिए बैठे रहते हैं। न केवल यही बल्कि यहाँ जीवन बहुधा सीधा-सादा होता है। रुपया-पैसा कमाने अथवा मौज उड़ाने के लिए कुछ भी चेष्टा नहीं की जाती। और यही कारण है कि वहाँ शिक्षा को मनुष्य स्वभाव तथा प्रकृति के साथ मिल जाने के लिए बड़ी सुगमता तथा समय मिल जाता है। परन्तु इन बातों के कहने से हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि विदेशों की बड़ी-बड़ीपाठशालाओं में भी शिक्षा के प्रकृति के साथ मिल जाने की संभावना नहीं है।

पुरातन भारत में यह नियम था कि शिक्षा प्राप्त करने तक मनुष्य ब्रह्मचारी रहे और गुरु अथवा शिक्षक के घर में रहे।

जो लोग दुनिया में अर्थात् गृहस्थियों की भाँति रहते हैं, वे पूर्ण रूप से प्रकृति के मार्ग पर नहीं चल सकते। भाँति-भाँति के लोगों के समूह में भिन्न-भिन्न ओर से बहुत सी लहरें आकर प्रत्येक समय अनावश्यक ही उन्हें तंग करती रहती हैं। मन की शक्तियां (Faculties) जो उस समय सूक्ष्म स्थिति में होती हैं, असमय ही अस्थाई आवश्यकताओं के कारण पैदा हो जाती हैं और उभर आती हैं। इससे शक्ति की बड़ी हानि होती है और मन निर्बल तथा अस्थाई हो जाता है। इसलिए बचपन में

आचार-विचार आदि को अन्य बुराइयों के समस्त कारणों से बचाकर रखना अत्यन्त आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ यही है कि जहाँ तक संभव हो मनुष्य अपनी अभिलाषाओं को रोके, उनको उभरने न दे और विषय-भोग में लीन होकर अपनी शक्तियों एवं योग्यताओं को नष्ट न करे। वास्तव में यदि ध्यान दिया जाए तो मनुष्य को इस प्राकृतिक नियम के पालन करने से बड़ा सुख तथा प्रसन्नता प्राप्त होती है। क्योंकि इस प्रकार उसकी मनुष्यता अर्थात् शारीरिक, बौद्धिक तथा मानसिक शक्तियाँ पूरे वेग से उन्नति करती हैं। इसी से वह मनवांछित स्वतन्त्रता का सुख अनुभव कर सकते हैं और इससे उनका वह पवित्र मन जो अभी खिला ही होता है, उनके शरीर में प्रकाश फैला देता है।

आज कल ब्रह्मचर्य पालन करने के स्थान पर नीति पढ़ाने का रिवाज निकला है। भारत के शिक्षित नेता तथा बच्चों के माता-पिता समझते हैं कि विद्यार्थियों को नीति की बातें सिखाना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु हमारे विचार में यह भी एक प्रकार का कल या मशीन जैसा काम है। प्रतिदिन नियमानुसार थोड़ा-सा सारसप्रेला पी लेने की भाँति ही यह नीति का उपदेश होता है। बच्चों को अच्छा बनाने की यह एक नियमित रीति समझी जाती है।

नीति का उपदेश एक कठिन विषय है। कम-से-कम यह रोचक कदापि नहीं होता क्योंकि जिसे उपदेश दिया जाता है मानो वह असामियों के (कर्जदारों अथवा अपराधियों के) जंगले में खड़ा किया जाता है। और ऐसी स्थिति में या तो वह उपदेश उसके मन में घुसने ही नहीं पाता या फिर उस पर आक्रमण-सा कर देता है, बल्कि कभी-कभी इसके विपरीत हानि भी हो जाती है। एक अच्छी वस्तु को स्वादरहित तथा व्यर्थ बना

देने से बढ़कर मनुष्य के लिए हानिकारक और कोई बात नहीं है। नीति-उपदेश जैसी अच्छी बात बच्चों को बिना आवश्यकता और समय से पहले देने की चेष्टा करके अरोचक एवं व्यर्थ बना दी जाती है। परन्तु शोक यह है लोग इस विषय को भली प्रकार समझते नहीं। उच्चकोटि के शिक्षिकों का आकर्षण भी इस ओर देखकर हम अपने मन ही मन बहुत डरते हैं।

जब इस जीवन-यात्रा में सहस्रों प्रकार के असत्य, बनावटी अप्राकृतिक बातें एवं अन्य अवगुण अथवा बुराइयाँ हर समय हमारे चरित्र को बिगाड़ती रहती हैं, उस समय यह आशा कैसे की जा सकती है कि विद्यालय के दस से लेकर चार बजे तक के थोड़े से समय में एक-दो पुस्तकों में लिखे हुए बड़े-बड़े मनुष्यों के वाक्य हमारा सुधार कर सकेंगे और हमारे चरित्र को ठीक नीति के अनुसार बना सकेंगे। इससे और तो कुछ नहीं होता केवल बाहरी दिखावट की आदत हो जाती है।

ब्रह्मचर्य के पालन द्वारा धर्म सम्बन्धी अभिलाषा को बिलकुल प्राकृतिक बना डालने की चेष्टा की जाती है। केवल कोरा उपदेश नहीं दिया जाता—शक्ति दी जाती है। नीति की बातें बाहरी तथा दिखावटी आभूषणों की भाँति जीवन के ऊपर लटका दी जाती हैं। वह भीतर प्रविष्ट नहीं होतीं। परन्तु ब्रह्मचर्य के पालन से वास्तव में यह अभिप्राय नहीं होता। इसके द्वारा जीवन ही धर्म के साथ नत्थी कर दिया जाता है। इस-प्रकार धर्म को विपरीत दिशा में खड़ा न करके इसे भीतरी रूप में जीवन के साथ एक कर दिया जाता है। इसलिये जीवन के आरम्भ में मन को शक्ति देने और चरित्र को बनाने के लिए केवल नीति के उपदेशों आदि की आवश्यकता नहीं है। बल्कि-सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि ऐसी स्थितियां उत्पन्न की जाएँ और ऐसे नियम बनाये जाएँ कि जिसमें रहने से मानसिक

शक्तियों को फलने-फूलने का पूरा-पूरा अवसर मिल सके।

केवल ब्रह्मचर्य ही पर्याप्त नहीं है। इस स्थिति में प्रकृति से मेल और उसका अनुसरण भी आवश्यक है। नगर हमारा प्राकृतिक निवास-स्थान नहीं है। मनुष्य की काम-धन्धे की आवश्यकताओं एवं इच्छाओं से हमने नगरों में निवास कर लिया है। परमात्मा की यह इच्छा कदापि नहीं थी कि हम विश्व में आकर ईंट, लकड़ी तथा पत्थरों की गोदी में पलकर मनुष्य बनें। हमारे कार्यालयों तथा नगरों के साथ फल, फूल, पत्ते, चाँद, सूर्य आदि का कदाचित कोई सम्बन्ध नहीं है। यह नगर हमें जीवन तथा रस से परिपूर्ण प्रकृति की (छाती) गोदी से छीन कर (निकाल कर) अपने तपे हुए पेट में डालकर पचा डालते हैं, एवं झुलसा देते हैं। परन्तु जिन व्यक्तियों को इनमें रहने का स्वभाव पड़ गया है और जो सदा व्यापार के नशे में लीन रहते हैं वे धीरे-धीरे अपने वास्तविक स्वभाव तथा अपनी प्रकृति को नष्ट करके इस विशाल जगत से पृथक होते चले जाते हैं।

परन्तु व्यापार के चक्कर में पडकर सिर टकराने से पूर्व अर्थात् सीखने के समय—उस समय जब कि बच्चों को शारीरिक तथा मानसिक शक्तियाँ उन्नति प्राप्त किया करती हैं—उन्हें प्रकृति की सहायता की बड़ी आवश्यकता होती है। उनके लिये उस समय फूल, पत्ते, वृक्ष और वन, नीला आकाश, नदी-नाले, पर्वत, चाँद, सूर्य आदि-आदि प्राकृतिक दृश्य तपस्याओं परिश्रम, पुस्तकों तथा परीक्षाओं से कुछ कम आवश्यक नहीं होते।

चिरकाल से भारतवासियों ने इन प्राकृतिक वस्तुओं से लगाव रखा है और इसी वातावरण में उनका पालन-पोषण हुआ है। इसलिए प्राकृतिक वस्तुओं तथा दृश्यों को देखने तथा

अनुभव करने में मस्त होकर लीन हो जाना, अपने व्यक्तित्व को भूल जाना भारतीयों के लिए कोई असाधारण बात नहीं है।

अग्नि, वायु, जल तथा मिट्टी आदि से बने हुए जगत को ध्यानपूर्वक देखना, उसके महत्त्व को समझना ही वास्तविक शिक्षा है। यह शिक्षा नगरों के शोभायमान विद्यालयों तथा पाठशालाओं में पूर्णरूप से नहीं दी जा सकती क्योंकि वहाँ शिक्षा देने के कारखानों में हम विश्व को एक प्रकार की कल या मशीन समझना ही सीख सकते हैं।

परन्तु आज बीसवीं शताब्दी के युग में वह लोग जिन्हें प्रातः से सायंकाल तक जगत के काम-धन्धों से अवकाश नहीं मिलता, इन बातों को व्यर्थ कहकर उड़ा देंगे। उन्हें इन नियमों पर तनिक भी विश्वास या भरोसा न होगा। इसलिए हम नहीं चाहते कि हम इस विषय को लेकर अपने सारे विषय को ही उनकी दृष्टि में अविश्वसनीय बना लें। परन्तु फिर भी बड़े ध्यानपूर्वक देखने से विदित होता है कि व्यापारी-जन भी इस नियम को एकदम नहीं उड़ा सकेंगे। वे इस बात को सुगमता से झुठला न सकेंगे कि खुला आकाश, खुली वायु और फूल-पत्ते मनुष्य के शरीर, मन और मस्तिष्क को उचित साँचे में ढालने और उन्हें शक्ति देने के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। जिस समय आयु बढ़ेगी, सांसारिक व्यवहार की ओर ध्यान पड़ेगा, कार्यालय अपनी ओर आकर्षित करेगा, हर समय पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों के झुंड के झुंड हमें घेरे रहेंगे, हम उनसे एक क्षण के लिए भी पृथक् न हो सकेंगे, जिस समय हमारा मन विभिन्न प्रकार की उलझनों तथा अभिलाषाओं में फँसकर इधर-उधर मारा-मारा फिरेगा; उस समय प्रकृति के साथ हमारा पूर्ण मिलाप समाप्त हो जाएगा। फिर भी हमें प्रकृति के जी भर

कर दर्शन नहीं हो सकेंगे। इसलिए उचित यह है कि उस समय के आने से पूर्व उस समय के साथ—जिसकी गोदी में हमारा जन्म हुआ है—पर्याप्त मेल-जोल कर लें—उससे खूब हिल-मिल जाएँ। माता के दूध की भाँति उससे अमृत रस चूस लेना चाहिए। और उससे विशालता तथा अभय की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। ऐसी क्रिया करने से ही हम सच्चे तथा पूर्ण मनुष्य बन सकते हैं। जिस समय बच्चों का मन कोमल होता है, वह साँचे में ढालने के योग्य होता है। उनमें वासनाओं की अग्नि नहीं भड़की होती। जब उनके आचार सुदृढ़ तथा अपनी पूर्ण शक्ति में होते हैं—जब तक संसार की लालसाओं ने अपने अधीन नहीं किया होता—उस समय उन्हें नीले स्वच्छ आकाश के नीचे—जहाँ धूप-छाँय परस्पर खेलते रहते हैं—जी भरकर खेलने दो शान्ति से उछलने-कूदने दो—उन्हें प्रकृति की गोद से पृथक् न करो—उन्हें इस सुख से वंचित करने की चेष्टा न करो। सुन्दर तथा आकर्षक प्रातः को उनके प्रत्येक नवीन दिवस का द्वार अपनी चमकदार उँगलियों (किरणों) के द्वारा खोलने दो। वृक्षों और बेलों से बने हुए प्रकृति के सुन्दर मंच पर ऋतुओं के अदल-बदल का नित नया दृश्य उनके सम्मुख होने दो। उन्हें इनका आनन्द उठाने दो। वे झाड़ियों के नीचे खड़े होकर देखें कि नव वर्षा ऋतु शासनारूढ़ राजकुमार की भाँति अपनी पानी से भरी हुई बादलों की सेना लेकर बन की तपी हुई अतृप्त पृथ्वी पर किस प्रकार वर्षा का आवरण डालती है, और शरद ऋतु में पृथ्वी की छाती पर ओस से सींची हुई, वायु से लहलहाती हुई, विभिन्न रंगों से रंगी हुई खेतों की सुन्दरता को अपनी आँखों से देखकर उन्हें अपना जीवन सफल बनाने दो। ऐ बच्चों के माताओ-पिताओ और शुभ-चिन्तको! तुम अपने विचारों तथा भावनाओं को चाहे कैसा ही जीवन-रहित

और अपने मन को चाहे कितना ही निष्ठुर-सा बना लो—तुम्हें अधिकार है। परन्तु दुहाई है तुम्हारी। यह बात कम-से-कम लज्जित होकर न ही कहना कि तुम्हारे बच्चों को इन वस्तुओं को कोई आवश्यकता नहीं है। अपने बच्चों को इस विशाल जगत में भली प्रकार आँखें खोलकर प्रकृति के दर्शन करने दो। यद्यपि आप इस बात का अनुमान नहीं लगा सकते कि इंस्पेक्टरों के परीक्षणों तथा परीक्षकों के प्रश्नों के उत्तरों की अपेक्षा इसका परिणाम कितना लाभदायक है। परन्तु अपने बच्चों के स्वास्थ्य को सम्मुख रखकर इन बातों की अधिक उपेक्षा न करो।

जिस समय मन बढ़ता है अर्थात् मन की शक्तियाँ बढ़ती हैं उस समय उसके चारों ओर पर्याप्त रिक्त स्थान होना चाहिए। यह रिक्त स्थान प्रकृति में भली प्रकार विद्यमान है। किसी प्रकार साढ़े नौ और दस बजे के अन्दर-अन्दर शीघ्रता से भोजन निगलकर शिक्षा प्राप्त करने की "मृगशाला" में उपस्थित हो जाने से बच्चों को प्रकृति का पूर्णरूप से विकास नहीं हो सकता। उनके मन की शक्तियाँ फैल नहीं सकतीं। शोक! हमारी शिक्षा को दीवारों से घेर कर, द्वार से रोक कर, संतरी बिठाकर, दण्ड आदि रखकर, घन्टे-घन्टियों से सचेत करके क्या ही विचित्र रूप दे दिया है! मनुष्य के जीवन के आरम्भ में यह कैसी अरोचक वस्तुएँ बना दी गई हैं। बच्चे जब माता के गर्भ से जन्म लेते हैं तो न तो उनको गणित आता है और न ही ऐतिहासिक घटनाओं के वर्ष-काल स्मरण होते हैं। क्या इस बात के लिए उन्हें दोषी ठहराना चाहिए? ऐसा जान पड़ता है कि इसी दोष के कारण उन अभागों से उनका आकाश, वायु, उनका सारा आनन्द और स्वतन्त्रता (अवकाश) छीनकर शिक्षा उनके लिए हर ओर से एक प्रकार का दण्ड बना दी,

जाती है। परन्तु तनिक ध्यान तो दो कि बच्चे अपढ़ दशा में क्यों उत्पन्न होते हैं ? हमारी अनुमति में उनका ऐसी स्थिति में उत्पन्न होने का कारण यही है कि वह अज्ञानता से धीरे-धीरे ज्ञान का आनन्द प्राप्त करें। यदि हम अपनी योग्यता की कमी और वहशीपन के कारण ज्ञान-शिक्षा को रोचक न बना सके तो न सही परन्तु हमें इतना तो चाहिए कि जान-बूझकर, अकारण चेष्टा करके, अत्यन्त कठोरता से काम लेकर बच्चों की पाठशालाओं को कम-से-कम कारावास तो न बना दें। परमात्मा की इच्छा है कि हमारे बच्चे इस विशाल और खुले जगत के रिक्त स्थान में धीरे-धीरे उन्नति करें। प्रकृति का यही अभिप्राय है। यदि हम प्रकृति के इस अभिप्राय की अवहेलना करते हैं तो हानि होती चली जाती है। प्रकृति की इच्छा पूर्ण नहीं हो पाती। मृगशाला की दीवारें तोड़ डालो। माता के गर्भ के दस मास में बच्चे विद्वान नहीं हुए—इस दोष के लिए उन्हें परिश्रम सहित कठोर दण्ड मत दो— उन पर दया करो!

इसलिए हम कहते हैं कि शिक्षा के लिए अब हमें जंगलों तथा वनों की आवश्यकता है। गुरुकुल भी अवश्य होने चाहिए। वन हमारे रहने के लिए जीवित स्थान हैं। आज भी हमें उन वनों में और उन गुरुकुलों में अपने बच्चों को ब्रह्मचर्य का व्रत रखा कर उनकी शिक्षा को सम्पूर्ण करना होगा। समय के हेर-फेर से स्थितियाँ चाहे कितनी ही क्यों न बदल जाएँ परन्तु इस शिक्षा-प्रणाली के लाभदायक सिद्ध होने में कदापि तनिक भी कोई अन्तर नहीं पड़ सकता। इसकी विशेषताओं में तनिक भी कमी नहीं आ सकती। कारण यह है कि यह नियम मनुष्य के चरित्र के अमर सत्य पर निर्भर है।

इसलिए यदि हम आदर्श विद्यालय स्थापित करना चाहें तो हमें नगर से दूर, वन में, खुले आकाश के नीचे, विशाल

मैदान में, प्राकृतिक वृक्षों के मध्य उसका प्रबन्ध करना चाहिए। वहाँ अध्यापक सांसारिक चहल-पहल से पृथक पढ़ाने में लीन रहेंगे और विद्यार्थी ज्ञान चर्चा के मैदान में उन्नति करते चले जाएंगे।

यदि सम्भव हो तो इस विद्यालय के साथ थोड़ी-सी खेती के योग्य पृथ्वी भी हो। इस पृथ्वी से विद्यालयों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए खाद्यान्न व अन्य वस्तुएँ प्राप्त की जाएंगी। विद्यार्थी खेती-बाड़ी के काम में सहायता देंगे। दूध-घी आदि प्राप्त करने के लिए गायें-भैंसें रखी जायेंगी और विद्यार्थियों को इनकी सेवा तथा रक्षा करनी पड़ेगी। जब उनको पढ़ने, लिखने से अवकाश मिलेगा तो वे अपने अवकाश के समय अपने हाथ से बाग लगाएंगे, पौधों को पानी देंगे और बाग की सुरक्षा के लिए बाड़ लगाएंगे। इस प्रकार वह प्रकृति के साथ न केवल भाव का सम्बन्ध जारी रखेंगे वरन् काम का भी। जब वायु-मण्डल अच्छा होगा अर्थात् वर्षा, शीत या गर्मी अधिक न होगी तो कक्षाएँ वृक्षों की छाया में बैठकर पढ़ेंगी। उनकी शिक्षा का कुछ भाग अध्यापकों के साथ वृक्षों के नीचे घूमते-फिरते व्यतीत किया जायगा और सायंकाल का फालतू समय विद्यार्थी तारों की पहचान करने में, संगीत में, प्राचीनकाल की कहानियाँ तथा ऐतिहासिक घटनाएँ सुनने में व्यतीत करेंगे।

यदि किसी विद्यार्थी से कोई अपराध हो जाये तो उसे हमारे नियमानुसार प्रायश्चित्त करना होगा। दण्ड और प्रायश्चित्त में बहुत अन्तर है। दण्ड दूसरा व्यक्ति देता है परन्तु स्वयं अपने अपराध का सुधार करना और उससे भविष्य के लिए दूर रहने की चेष्टा करने को प्रायश्चित्त कहा जाता है। विद्यार्थी को आरम्भ से ही इस प्रकार की शिक्षा मिलनी चाहिये कि यदि कोई अपराध हो जाय तो अपने आपको दण्ड

देना मनुष्य का कर्त्तव्य है। दण्ड भुगते बिना मन वास्तविक स्थिति पर नहीं आता। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि दूसरों के द्वारा अपने आप को दण्ड दिलाना उचित नहीं है।

यदि आप क्षमा करें तो इस अवसर में तनिक साहस करके यह बात और कह दूं। इस आदर्श विद्यालय में बेंचों, मेजों, कुर्सियों और चौकियों की आवश्यकता नहीं। मैं यह बात विदेशी वस्तुओं के विरुद्ध सत्याग्रह करने के अभिप्राय से नहीं कहता। ना हो मेरा अभिप्राय यह है कि हमें अपने विद्यालय में अनावश्यक वस्तुओं की आवश्यकता न बढ़ने देने का आदर्श हर समय तथा हर बात में अपने सम्मुख रखना होगा। मेज, कुर्सी, तथा बेंच आदि वस्तुएँ मनुष्य को हर समय नहीं मिल सकतीं। परन्तु नग्न पृथ्वी एक ऐसी वस्तु है कि उससे कोई भी वंचित नहीं रह सकता। उसे कोई छीन नहीं सकता। इसके विपरीत कुर्सियाँ-मेज ऐसी वस्तु हैं कि वह हमारी पृथ्वी हम से छीन लेती हैं। क्योंकि स्वभाव पड़ जाने पर हमारी ऐसी दशा हो जाती है कि यदि कभी हमें विवश होकर धरती पर बैठना पड़ता है तो न तो हमें चैन ही मिलता है और न हम सुगमता का ही अनुभव करते हैं। ध्यान से देखा जाए तो यह बड़ी भारी हानि है। हमारे देश में सर्दी अधिक नहीं होती। हमारे पहनने के वस्त्र ऐसे नहीं कि हम धरती पर चैन से न बैठ सकें। फिर क्या आवश्यकता है कि हम अन्य देशों की भाँति उत्पादन में वस्तुओं की अधिकता से अकारण ही कष्ट उठाएं ? हम जितनी अधिक अनावश्यक वस्तुओं को आवश्यक और अनिवार्य बनाते जाएंगे उतनी अधिक हमारी शक्तियाँ व्यर्थ नष्ट होती रहेंगी। इसके अतिरिक्त धनी योरुप की भाँति हमारे पास धन भी तो अधिक नहीं है। उसके लिए जो कुछ अति साधारण बात है वही हमारे लिए बहुत बड़ी बात है। ज्योंही हम किसी लाभ-

दायक कार्य को आरम्भ करते हैं और उसके लिए आवश्यक भवन, सामान और फर्नीचर आदि का अनुमान लगाते हैं, त्योंही हमारे नेत्र खुल जाते हैं। क्योंकि इस अनुमान में ७५ प्रतिशत अनावश्यक वस्तुएँ होती हैं। हम में से तो कोई भी साहस करके यह नहीं कह सकता कि हम साधारण तथा कच्चे मकान में कार्य आरम्भ कर देंगे, और धरती पर आसन बिछाकर सभा करेंगे, यदि हम यह बात साहस करके कह सकें तथा कर सकें तो हमारे सिर पर से आधे से अधिक भार उतर जाए, व्यय की चिन्ता दूर हो जाए और कार्य में भी किसी प्रकार का अन्तर न पड़े। परन्तु जिस देश में शक्ति असीमित है, जहाँ धन-दौलत कोने-कोने में भरा पड़ा है—उस धनी योरुप को अपने सम्मुख आदर्श रखे बिना हमारा संकोच दूर नहीं होता अर्थात् हमें धैर्य्य नहीं होता। इसलिए हमारी शक्तियों का एक बहुत बड़ा भाग तैयारियों ही में नष्ट हो जाता है। वास्तविक वस्तु के लिए हम भोजन नहीं जुटा पाते। हम कितने समय तक तख्तियों पर खड़िया अथवा मुलतानी मिट्टी फेर कर लिखने का अभ्यास करते रहे, उस समय तो विद्यालय की स्थापना का हमारा विचार भी न था। अब बाजार में सलेट की पेन्सिलें बहुत मिलती हैं। परन्तु पाठशाला की स्थापना करना बड़ा कठिन हो गया है। चारों ओर यही बात देखी जाती है। पहले सामान कम होते थे परन्तु वास्तविक वस्तु की ओर ध्यान अधिक रहता था। अब उस वस्तु का बहुत कम ध्यान रखा जाता है परन्तु तैयारियों पर सारे साधन और शक्तियाँ व्यय कर दी जाती हैं। हमारे देश में एक वह दिन था कि फालतू और अनावश्यक वस्तुओं को मनोरंजक सामान घोषित किया जाता था। परन्तु इसे कोई 'सभ्यता' नहीं कहता था। कारण यह कि उस समय देश में जो सभ्यता के भंडारी थे, उनके यहाँ

कुछ अधिक सामान नहीं होता था। वह निर्धनता को ही लाभ-दायक बनाकर उसी से शान्ति प्राप्त करके देश को सुखी और आनन्दित रखते थे। कम-से-कम यदि हम विद्यार्थी-जीवन में इस आदर्श को अपने सम्मुख रखकर कार्य कर सकें तो चाहे और कुछ न हो परन्तु हम बड़ी योग्यता और शक्ति प्राप्त कर सकेंगे। धरती पर बैठ सकने की शक्ति, मोटा खाने की, मोटा पहनने की शक्ति—वे सब साधारण शक्तियाँ नहीं हैं। इनके लिए अभ्यास की आवश्यकता । बिना अभ्यास के ये शक्तियाँ प्राप्त नहीं हो सकतीं। प्राकृतिक नियमों के अनुसार अति साधारण जीवन व्यतीत करना ही सभ्यता है। सामान आदि से जकड़े रहना वास्तव में मूर्खता है। इस प्रकार की शिक्षा बचपन से ही दी जानी चाहिए। परन्तु व्यर्थ और अस्वाभाविक उपदेशों और शिक्षकों द्वारा नहीं बल्कि मान्यताओं तथा उदा-हरणों द्वारा या अनावश्यक वस्तुओं और बाहरी दिखावट के कारण मनुष्य की मनुष्यता में अन्तर नहीं आ जाता। वरन् बहुधा मनुष्य अपनी व्यक्तिगत योग्यता के कारण चारों ओर चमक उठता है। हमें यह अति साधारण बात बिल्कुल स्पष्ट रूप से बच्चों के सामने रखनी होगी और उनके दिलों पर अंकित कर देनी होगी। यदि यह शिक्षा न दी जाएगी तो हमारे बच्चे न केवल अपने हाथ-पाँव और अपने घर की मिट्टी (धरती) का ही आदर न करेंगे बल्कि अपने कुल-पुरुषों को घृणा की दृष्टि से देखेंगे। और प्राचीन भारत की साधना के महत्व को भली प्रकार समझ नहीं सकेंगे।

यहाँ यह प्रश्न खड़ा होगा कि यदि तुम बाहरी दिखावट तथा चमक-दमक को पसन्द नहीं करते तो फिर तुम्हें वास्त-विक वस्तु को विशेष रूप से मूल्यवान बनाना होगा। क्या इसका मूल्य चुकाने की शक्ति तुम में है? अर्थात् क्या तुम इस

मूल्यवान अथवा आदर्श शिक्षा (Ideal Education) का प्रबन्ध कर सकते हो। गुरुकुल स्थापित करते ही गुरुजनों (अध्यापकों) की आवश्यकता पड़ेगी। परन्तु इसमें यह बड़ी भारी कठिनाई होती है कि अध्यापक तो समाचार-पत्रों में विज्ञापन देने से मिल जाते हैं पर गुरु तो आर्डर देने पर भी नहीं मिल पाते।

इसका उत्तर यह है ! यह सत्य है कि हमारा जितना धन होता है उससे अधिक की हम मांग नहीं कर सकते। अत्यावश्यक होने पर भी अपनी पाठशाला में गुरु के आसन पर एक योग्य व लायक ऋषि को ला बिठाना हमारे बस की बात नहीं है। परन्तु इस बात पर भी विचार करना होगा कि हमारा जो धन है, परिस्थितियों की अनुकूलता के कारण यदि हम उसकी पूर्णरूप से मांग न कर सकेंगे तो मूलधन भी गँवा बैठेंगे। इस प्रकार की घटनाएं प्रायः हमारे आस-पास घटती रहती हैं। लिफाफे पर डाक का टिकट लगाने के लिए यदि हम पानी से भरे हुए घड़े का प्रयोग करेंगे तो उसका बहुत-पानी अनावश्यक होगा। इतने पानी की आवश्यकता नहीं है। परन्तु यदि हमने स्नान करना हो तो घड़े का सारा पानी प्रयोग किया जा सकता है। अर्थात् उसी घड़े का लाभ प्रयोग करने की रीति के अनुसार घट-बढ़ सकता है। ठीक इसी प्रकार हम जिन्हें पाठशाला के अध्यापक बनाते हैं, उनको हम इस प्रकार से प्रयोग करते हैं कि उनके मन और मस्तिष्क का बहुत थोड़ा भाग कार्यान्वित होता है। वह कल या मशीन की भांति काम किया करते हैं। फोनोग्राफ यंत्र के साथ यदि हम एक छड़ी और थोड़ा-सा मस्तिष्क और जोड़ दें तो बस वह पाठशाला का अध्यापक बन सकता है। परन्तु यदि इसी अध्यापक को हम गुरु के आसन पर बिठा दें तो उसके मन और मस्तिष्क की सारी शक्तियाँ प्राकृतिक रूप से अपने शिष्यों की ओर दौड़ेंगी। इसमें संदेह नहीं कि उसमें जितनी

योग्यता है, उससे अधिक वह अपने शिष्यों को न दे सकेगा। परन्तु उसकी अपेक्षा कम देना भी उचित न होगा। एक दल अध्यापकों के रूप से पूरे वेग तथा मन से जो देश की सेवा कर रहा है, देश यदि चाहे तो गुरुजनों के रूप में उसकी अपेक्षा कहीं अधिक वेग के साथ कार्य हो सकेगा।

आजकल इच्छानुकूल नियमानुसार शिक्षक विद्यार्थियों के पास जाते हैं अर्थात् शिक्षक याचक बन गये हैं। परन्तु प्राकृतिक नियम के अनुसार विद्यार्थियों को शिक्षक के पास जाना चाहिए, विद्यार्थी याचक होने चाहिए। अब शिक्षक एक प्रकार के व्यापारी हैं और शिक्षा देना तथा विद्या पढ़ाना उनका व्यवसाय अथवा काम है। वे ग्राहकों की खोज में फिरते रहते हैं। व्यापारी से लोग वस्तुएं खरीदते हैं। परन्तु इस बात की आशा कोई नहीं कर सकता कि उसके पास से प्रेम, विश्वास अथवा सम्मान आदि मान की वस्तुएं भी खरीदी जा सकती हैं। इसीलिए शिक्षक वेतन लेते हैं और विद्या बेच देते हैं। बस व्यापारी और ग्राहक की भांति शिक्षक और विद्यार्थी का सम्बन्ध भी यहीं समाप्त हो जाता है। इस प्रकार की विपरीत या अपनी इच्छानुकूलपरिस्थितियां न होने पर भी शिक्षक लेने-देने का सम्बंध तोड़ बैठते हैं। हमारे शिक्षक जब यह समझने लगेंगे कि हम गुरु के आसन पर बैठे हैं और हमनें अपने जीवन द्वारा अपने शिष्यों में जीवात्मा फूंकनी है—अपने ज्ञान द्वारा उनके हृदय में ज्ञान और विद्या की ज्योति जगानी है—अपने प्रेम द्वारा बालकों का उद्धार करना है—उनके अमूल्य जीवन का सुधार करना है, उस समय वे सत्य रूप से स्वाभिमान के अधिकारी बन सकेंगे। तब वे ऐसी वस्तु प्रदान करने को तैयार होंगे जो विक्रेय नहीं है—जो मूल्य दे कर प्राप्त नहीं हो सकती। और उसी समय वे शिष्यों के निकट —सरकार द्वारा नहीं, अपितु धर्म के विधान तथा प्राकृतिक

नियम के अनुसार सम्मानित तथा पूज्य बन सकेंगे। वें जीविका के लिए वेतन लेने पर भी बदले में बहुत अधिक देकर अपने कार्य को उच्च तथा उत्तम बना सकेंगे। यह बात किसी से छिपी हुई नहीं कि कुछ समय हुआ जब देश के विद्यालय तथा महा-विद्यालय सरकार की कोप-दृष्टि का लक्ष्य बन गये थे। तो बीसियों नये तथा पुराने अध्यापकों ने जीविका की लालसा में ग्रहण किये हुए अध्यापक पद की नीचता का चित्र खुल्लम-खुल्ला (बिल्कुल निर्लज्ज होकर) देश के सामने अंकित कर दिया था। यदि वे भारत के प्राचीन गुरुजनों के आसन पर बैठे होते तो उन्नति की लालसा से या किसी और कारण से छोटे-छोटे बच्चों पर सरकार के गुप्तचर बनकर अपने पूज्य धन्धे को इस प्रकार संसार की दृष्टि में हीन तथा अपमानित न कर सकते। अब हमारे सम्मुख प्रश्न यह है कि शिक्षा के व्यापार की हीनता तथा अपमान से क्या हम अपने देश के शिक्षकों तथा विद्यार्थियों को नहीं बचा सकते?

परन्तु ऐसा दीख पड़ता है कि हमारी यह लम्बी-चौड़ी समालोचना तथा शब्दार्थ व्यर्थ हैं क्योंकि बहुत-से सज्जनों को शिक्षा के विषय में हमारे प्रस्तावित नियमों की जड़ ही अस्वी-कृत है। अर्थात् वे लोग लिखना-पढ़ना सीखने के लिए अपने बच्चों को दूर भेजना उचित नहीं समझते।

इसके विषय में पहली बात हम जो कहना चाहते हैं वह यह है कि हम आजकल जिसको लिखना-पढ़ना समझते हैं, उसके लिए तो केवल इतना ही पर्याप्त है कि अपने मुहल्ले की किसी गली में कोई ऐसी पाठशाला देख ली जाय तो जिसमें बच्चों को सुगमता हो। और उसके साथ अधिकाधिक एक निजी शिक्षक रख लिया। जो शिक्षा इस उद्देश्य से दी जाती है कि—"लिखना पढ़ना सीखे जोई। गाड़ी-घोड़ा पावे सोई" वह शिक्षा ही नहीं

विद्या का ! अपमान मनुष्य जाति के लिए कदाचित शोभायमान नहीं है।

दूसरी बात जो हम कहना चाहते हैं वह यह है कि "विद्योपार्जन के लिए बच्चों को घर से दूर भेजना उचित नहीं" इस वात को हम उस दशा में स्वीकार कर सकते थे जब हमारे घर वैसे होते जैसे कि होने चाहिए थे। कुम्हार, लोहार, तरखान (बढ़ई), जुलाहे आदि उद्योगी जन अपने बच्चों को अपने पास रखकर ही मनुष्य बना लेते हैं और उनके बालक उन्हीं जैसा कार्य करने लग जाते हैं। इसका कारण यह कि वे जितनी शिक्षा अपने बच्चों को देना चाहते हैं उतनी शिक्षा उन्हें घर पर रख कर ही भली प्रकार दी जा सकती है। उनके घर इस योग्य होते हैं परन्तु यदि विद्या का आदर्श इससे कुछ ऊँचा रखा जाए तो हमें अपने बच्चों को पाठशाला में भेजना होगा। उस स्थिति में यह कोई नहीं कहेगा कि माता-पिता का बच्चों को अपने पास रखकर सिखाना या शिक्षा देना एक सर्वोत्तम ढंग है। क्योंकि अनेक बातें ऐसी हैं जिनके कारण यह कार्य-विधि सम्भव नहीं हो सकती। शिक्षा के आदर्श कोयदि हमऔर भी उच्च(उत्तम) बनाना चाहें—यदि परीक्षा के परिणाम और पुस्तकीय शिक्षा की ओर हमारी दृष्टि न हो—यदि पूर्ण मनुष्य उत्पन्न करना हम अपनी शिक्षा का उद्देश्य समझें—यदि हम शिक्षा द्वारा उच्च चरित्र के मनुष्य जो अपने कर्त्तव्य को समझें, तैयार करना चाहें तो उस शिक्षा का प्रबंध न तो घर में हो सकेगा और न विद्यालयों में ही हो सकेगा।

संसार में कोई व्यापारी है, कोई वकील है, कोई धनी भूस्वामी है और कोई कुछ और है। इन सब के घरों का वायुमंडल तथा वातावरण एक दूसरे से भिन्न तथा भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। और इसीलिए इनके बच्चों पर बाल्यकाल

से ही भिन्न-भिन्न प्रकार की छाप लग जाती है—वह भाँति-भाँति के सांचों में ढल जाते हैं।

जीवन-यात्रा की विचित्र खींचातानी के कारण मनुष्य में स्वयं ही जो एक गुण या लक्षण पैदा हो जाता है उससे बचना या उसको दूर करना असम्भव है और इस प्रकार एक-एक व्यवसाय अथवा कार्य को अपनाकर मनुष्य विभिन्न दलों में जाते हैं। परन्तु संसार में पांव रखने से पूर्व ही बच्चों का अपने माता-पिता या संरक्षकों के नीचे साँचे में ढल जाना उनके लिए सदा लाभदायक नहीं होता।

उदाहरणार्थ एक धनी मनुष्य के घर उत्पन्न हुए हैं। पर जिस समय वे उत्पन्न होते हैं उस समय उनमें कोई गुण या विशेषता नहीं होती। जिससे यह प्रतीत हो सके कि धनी पुरुष के बालक हैं। धनी तथा निर्धन के बालकों में उस समय कोई अन्तर नहीं देखा जा सकता। उत्पन्न होने के दूसरे दिन से मनुष्य इस अन्तर को अपने हाथों से घड़ता है। अर्थात् प्रकृति नहीं बल्कि हम स्वयं इस प्रकार का अन्तर पैदा कर देतें हैं।

ऐसी स्थिति में माता-पिता का कर्त्तव्य है कि वे पहले बालकों को साधारण मनुष्य बनाएं, उसके पश्चात् उन्हें आवश्यकतानुसार धनी मनुष्य की संतान बना दें। परन्तु शोक! ऐसा नहीं होता। वे प्रत्येक दृष्टिकोण से एक साधारण मनुष्य की संतान बनने से पूर्व ही धनी मनुष्य के बालक बन जाते हैं। परिणाम यह होता है वे बार-बार प्राप्त न होने वाले मनुष्य के शरीर की बहुत-सी बातों से वंचित हो जाते हैं। जीवन के विभिन्न रसों का उपयोग करने तथा स्वाद चखने की योग्यता तथा शक्ति ही उनमें नहीं रहती। पहले तो पिंजरे में बन्द जानवर की भांति धनी के पुत्र को उसके माता-पिता, हाथ-पांव होते हुए भी लंगड़ा-लूला बना डालते हैं। वह पैदल नहीं चल

सकता। उसके लिए गाड़ी चाहिये। अत्यन्त साधारण बोझ उठाने की शक्ति नहीं रहती। कुली अथवा मजदूर चाहिए। निजी काम भी नहीं हो सकता। सेवक चाहिए। यह बात नहीं है कि शारीरिक शक्ति के अभाव के कारण ऐसा होता हो। यद्यपि उसके शरीर का प्रत्येक भाग, प्रत्येक अंग सुगठित है और ठीक-ठीक कार्य करता है, परन्तु फिर भी उस अभागे को लोक-लाज के मारे गठिए का रोगी बनना पड़ता है। जो बात सहज है, उसके लिए कष्ट और जो बिलकुल प्राकृतिक होती है वह उसके लिए लज्जाजनक हो जाती है। समाज की ओर देख-कर—"वह हमारे कार्य को अनुचित अथवा बुरा न कहने लग जाय"—इस विचार से उसे जिन बन्धनों में बन्द होना पड़ता है, उनसे वह साधारण (प्राकृतिक) मनुष्य के बहुत-से अधिकारों से वंचित हो जाता है। "तत्पश्चात कोई उसे धनी न समझे" इतनी साधारण-सी बात भी वह सहन नहीं कर सकता। इसके लिए उसे पर्वत की भाँति बोझ उठाना पड़ता है। और इसी बोझ के मारे वह पग-पग पर धरती में दब जाता है। उसे अपना काम-काज करना होगा। विश्राम करना हो तो भी इस बोझ को सिर पर लाद कर करना होगा। घूमना-फिरना हो तो भी सारे बोझ को साथ-साथ-खींचते हुए चलना होगा। यह एक अति साधारण तथा सत्य बात है कि प्रसन्नता का सम्बन्ध मन के साथ है। अर्थात् यह मन पर निर्भर है। बाहरी वस्तुओं के साथ नहीं। परन्तु वह इस साधारण तथ्य को भी नहीं जान सकता। उसको प्रत्येक ओर से भुलाकर सहस्रों सांसारिक वस्तुओं की दासता में जकड़ दिया जाता है। अपनी साधारण आवश्यकताओं को वह इतना बढ़ा लेता है कि तत्पश्चात उनको छोड़ देना कठिन हो जाता है। और यदि किसी प्रकार का थोड़ा-सा कष्ट आ जाए तो उसे सहन करना—उसे झेलना असंभव हो जाता

हैं। संसार में उससे अधिक बन्दी और ऐसा लंगड़ा-लूला और अंगहीन शायद ही कोई और हो। इस पर भी क्या हमें यह कहना होगा कि यह सब पालन-पोषण करने वाले माता-पिता जो बनावटी शक्तिहीनता तथा दुर्बलता पर मान करना सिखलाते हैं, जो धरती की सुन्दरता को दुगना करने वाले धान के खेतों पर कांटों वाले झाड़ बिछा देते हैं—अपनी सन्तान के वास्तव में शुभचिंतक हैं? जो युवा होकर अपनी इच्छानुसार विलास के इच्छुक हो जाते हैं, उन्हें तो निःसन्देह कोई नहीं रोक सकता। परन्तु बच्चे? जो धूल आदि से घृणा नहीं करते, जो धूप, वायु तथा वर्षा को पसन्द करते हैं—जो सज-धज कराने में कष्ट अनुभव करते हैं—जो अपनी सब इंद्रियों का प्रयोग करके संसार को देखने-भालने में प्रसन्नता का अनुभव करते हैं और जिन्हें स्वभाव के अनुसार चलने-फिरने में लज्जा, सावधानी संशय और अभिमान आदि कुछ भी अनुभव नहीं होता। अत्यन्त शोक की बात है कि वही बच्चे जान-बूझकर बिगाड़ दिये जाते हैं। उनका स्वभाव बिगाड़ दिया जाता है और वे सदा के लिए अयोग्य बना दिये जाते हैं। हे परमात्मा! ऐसे माता-पिता के हाथों से इन निर्दोष बच्चों की रक्षा करो, उन्हें बचाओ—उन पर दया करो।

हम जानते हैं कि बहुत से घरों में बालक-बालिकाएँ साहब और मेम बनाए जा रहे हैं। वे दासी तथा दासों के हाथों से मनुष्य बनते हैं। टूटी-फूटी (बिगड़ी हुई) बेढंगी हिन्दुस्तानी सीखते हैं। अपनी मातृभाषा भूल जाते हैं। भारतीय बच्चों के लिए अपनी जाति या समाज से जिन सहस्रों भावों (विचार) द्वारा नियमानुसार उत्तम रस चूसकर सुन्दर भोजन प्राप्त करके सुदृढ़ तथा शक्तिशाली बनना साधारणतः प्राकृतिक बात थी, उन सब राष्ट्रीय नसों तथा रंगों से उनका सम्बन्ध विच्छेद हो

जाता है। परन्तु अंग्रेजी समाज के साथ भी उनका सम्बन्ध नहीं रहता। अर्थात् वे बन से उखाड़े जाने पर टीन के टबों में पलते और बड़े होते हैं। हमने अपने कानों से सुना है कि इसी श्रेणी (प्रकार) का एक बालक अपने अनेक पुराने ढंग के सम्बन्धियों को देखकर अपनी माता से बोला था :—"Mamma, Mamma look, lot of babus are coming" :—(म -माँ, देखोढेरों बन्दर आ रहे हैं) एक भारतीय बालक की इससे अधिक गई-गुजरी दशा और क्या हो सकती है? बड़े होकर अपनी इच्छा या अभिलाषा से जो व्यक्ति साहबी चाल चलना चाहें वे निःसंकोच चलें उन्हें चलने दो। परन्तु उनकी बाल्यावस्था में जो माता-पिता बहुत-सा, व्यर्थ-व्यय और बहुत-सी अपूर्ण चेष्टाएँ करके उन्हें अपने देश के प्रति किसी काम का नहीं छोड़ते और दूसरे देशों के लिए अप्रिय बना देते हैं, जो संतान को कुछ काल तक अपनी वर्तमान आय (जिसके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वह कब तक रहेगी) का आश्रय देकर भविष्य की दीनता के लिए जान-बूझकर तैयार करते हैं, माता-पिता तथा संरक्षकों के पास यदि बच्चों को न रहने दिया जाय और उन्हें कुछ दूर भेज दिया जाए तो क्या यह शोचनीय तथा भयपूर्ण बात होगी?

हमने ऊपर जो उदाहरण दिया है उसका एक विशेष कारण है। साहबपन का जिन्हें स्वभाव नहीं है, उनके मन पर इस उदाहरण से बड़ा आघात पहुंचेगा। वे सचमुच ही अपने मन में सोचेंगे कि लोग इस इतनी साधारण-सी बात को क्यों नहीं समझ सकते? वे अपने बच्चों के आगामी जीवन को भूलकर, उनका विचार दृष्टिगोचर न रखकर, अपने स्वभाव और अनुचित कार्यों के पंजे में फंसकर अपने बच्चों का इस प्रकार सत्यानाश करने के लिए क्यों उतारू हो जाते हैं।

परन्तु यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि जिनको साहब-पन का प्रभाव पड़ गया है वे सब कार्य बड़ी सरलता तथा सुगमता से किया करते हैं। उनके मन में कभी यह विचार तक नहीं आता कि वे अपनी संतान को कैसे बुरे मार्ग पर डाल रहे हैं—वे इस बात को सोच ही नहीं सकते। कारण यह है कि मन पर जो विशेष पाप अधिकार जमा लेते हैं, हम उनसे एक प्रकार से अचेत ही रहते हैं। हमें इस प्रकार से अपनी मुट्ठी में कर लेते हैं कि यदि मनुष्य को हमारे उन पापों द्वारा किसी प्रकार का कष्ट या हानि भी पहुंचे तब भी हम उनकी ओर से अनभिज्ञ बने रहते हैं। यह नहीं सोचते कि उनसे किसी को कष्ट हो रहा है या हानि पहुंच रही है। हम समझते हैं कि घर-गृहस्थी में क्रोध, द्वेष, अन्याय और बुरे संस्कार होने पर भी उस गृहस्थ से दूर रहना बच्चों के लिए अति कठिन है। यह विचार हमारे मन में कभी भूल कर भी नहीं आता कि जिस गृहस्थ के अन्दर रहकर हम बड़े हुए हैं और मनुष्य बने हैं, उसके अन्दर अन्य किसी के मनुष्य बनने में किसी प्रकार की रुकावट तो न होगी—कोई कठिनाई तो न होगी। परन्तु यदि मनुष्य बनने का 'आदर्श' सच्चा हो और यदि हम अपनी सन्तान को अपनी भाँति काम-चलाऊ मनुष्य बनाना उचित न समझते हों तो यह बात हमारे मस्तिष्क में पैदा हुए बिना नहीं रह सकती कि बच्चों को शिक्षा ग्रहण करते समय ऐसे स्थान पर रखना हमारा कर्त्तव्य है कि जहां वे प्रकृति के नियमानुसार प्रकृति के साथ गहरा सम्बन्ध जारी रखते हुए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर सकें और गुरुजनों की संगति से लाभ उठाकर सच्चा ज्ञान (शिक्षा) प्राप्त करके मनुष्य बन सकें।

बच्चों को माता के गर्भ में और बीज को धरती के अन्दर अपने-अपने उचित भोजन से ढंपे रहना पड़ता है। उस समय

उन दोनों को रात-दिन इसके अतिरिक्त और कोई काम नहीं होता कि अपना-अपना भोजन प्राप्त करके अपने आपको आकाश तथा प्रकाश के लिए तैयार कर लें। अर्थात् वे दोनों संसार में आने की तैयारी में व्यस्त होते हैं। इस समय वे किसी को कुछ देते नहीं—कुछ परित्याग नहीं करते। चारों ओर से लेते रहते हैं—अपना भोजन पचाते रहते हैं। प्रकृति उन्हें उचित स्थान पर बन्द करके भोजन पहुंचाती रहती है। वह अन्दर लिपटे पड़े रहते हैं? बाहरी आघात आदि उन पर कदापि प्रभाव नहीं डाल सकते और संसार के अनेक प्रलोभन उनकी शक्ति का आपस में बिभाजन नहीं कर सकते। अर्थात् संसार की भिन्न-भिन्न सुन्दर तथा लुभावनी वस्तुएँ उनके मन अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकती।

बच्चों का विद्यार्थी-काल भी एक प्रकार से मानसिक गर्भ-काल समझना चाहिए। उस समय वे शिक्षा के एक जीवित खोल के अन्दर रात-दिन मन को भोजन से घिरे रखकर सांसारिक झंझटों तथा परेशानियों से दूर चुपचाप अपना समय व्यतीत करते हैं। और होना भी यही चाहिए। यही प्राकृतिक नियम है। उस समय चारों ओर की सब बातें तथा परिस्थितियां अनुकुल होनी चाहिए जिससे उनके मन का सबसे आवश्यक कार्य चलता रहे। अर्थात् वे जाने अनजाने रूप में अपना भोजन पचाते रहें, शक्ति प्राप्त करते रहें और अपने आपको सुदृढ़ तथा शक्तिशाली बनाते रहें।

संसार कार्य-क्षेत्र है। भाँति-भाँति की अभिलाषाएँ इसके मंच पर आकर नाटक करती है। इसमें ऐसे अनुकूल वायुमंडल का मिलना अति कठिन है कि जिससे बच्चे विद्यार्थी काल में उचित शक्ति तथा एक परिपूर्ण जीवन का धन एकत्र कर सकें। शिक्षा समाप्त होने पर उनमें गृहस्थी बनने की वास्तविक

योग्यता उत्पन्न हो जाएगी। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि संसार के समस्त प्रलोभनों के आक्रमणों के मध्य इच्छानुसार मनुष्य होते पर गृहस्थी बनने के योग्य मनुष्यता प्राप्त नहीं की जा सकती। भूस्वामी बन सकते हैं, व्यापारी बन सकते हैं, कोई और व्यवसाय कर सकते हैं परन्तु मनुष्य बनना अत्यन्त कठिन बात है। हमारे देश में एक युग वह भी था, जब गृहस्थ-धर्म का आदर्श बहुत उच्च समझा जाता था, इसलिए हमारी जाति के तीनों वर्णों अर्थात् ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों को संसार को भूमि पर पाँव रखने से पूर्व ब्रह्मचर्य पालन द्वारा अपने आपको गृहस्थ-धर्म के प्रत्येक दृष्टिकोण से योग्य बनाने का उपदेश और प्रबन्ध किया जाता था। यह आदर्श चिरकाल से नीचे गिर गया है और इसके स्थान पर हमने अब तक कोई और उच्चतम आदर्श अपने सम्मुख नहीं रखा। यही कारण है कि आज क्लर्क, पटवारी, दरोगा, डिप्टी, मजिस्ट्रेट आदि बन कर संतुष्ट हो जाते हैं तथा प्रसन्न हो जाते हैं। इससे 'अधिक' बनने को यद्यपि हम 'बुरा' नहीं समझते परन्तु 'अधिक' अवश्य समझते हैं।

परन्तु वास्तव में इससे अत्यधिक भी 'अधिक' नहीं है। हम यह बात केवल हिन्दुओं की ओर से ही नहीं कहते। अपितु किसी देश या किसी जाति में भी यह 'अधिक' नहीं है। अन्य देशों में ठीक इसी प्रकार की शिक्षा-प्रणाली प्रचलित नहीं की गई। परन्तु वहाँ के वासी युद्धों में सम्मिलित होकर लड़ते हैं, व्यापार करते हैं। टैलीग्राफ के तार खटखटाते हैं। रेलगाड़ी के इंजन चलाते हैं यह देखकर हम भूल गए हैं और यह भूल ऐसी नहीं कि जिसके विषय में यह आशा की जा सके कि किसी सभा-सोसायटी या किसी विशेष प्रबन्ध की आलोचना या उसकी जांच-पड़ताल करने से दूर हो जाएगी। इसलिए हमें

डर है कि आज हम राष्ट्रीय शिक्षा की सभा स्थापित करने के समय अपने देश तथा अपने इतिहास को छोड़कर इधर-उधर उदाहरण ढूँढ़ते-ढूँढ़ते कम और सांचे में ढली हुई कल या मशीन की पाठशाला न खोल बैठें। हम प्रकृति पर विश्वास नहीं करते। मनुष्यों पर हमें भरोसा नहीं है। इसलिए कलों को छोड़कर हम और किस वस्तु को शरण ले सकते हैं? इनके अतिरिक्त और हमें शरण मिल ही कहाँ सकती है? हम अपने मन में यह विश्वास किये बैठे हैं कि नीति के पाठ की कल घुमाने ही से सब व्यक्ति भलेमानस बन जाएँगे और पुस्तकें पढ़ाने का फंदा गले में डालते ही मनुष्य का तीसरा नेत्र जिसे ज्ञान-चक्षु कहते हैं, स्वयं खुल जाएगा।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि प्रचलित रीति का एक विद्यालय खोलने की अपेक्षा ज्ञान-दान के लिए कोई लाभदायक आश्रम स्थापित करना अत्यन्त कठिन है। परन्तु स्मरण रखिये कि इस कठिनाई को सरल बनाना, इसको सुलझाना ही भारत का एक आवश्यक कर्त्तव्य होगा। यही आवश्यक कार्य उसके सम्मुख होगा। क्योंकि हमारे मस्तिष्कों और हमारे विचारों में इस आश्रम का संस्कार अभी तक विद्यमान है। उसका चिह्न अभी तक मिटा नहीं और साथ ही हम योरुप की बहुत-सी विद्याओं से भी परिचित हो गए हैं। विद्या तथा शिक्षा को एक ही समतल पर लाना होगा। दोनों में आपसी मेल पैदा करना होगा। इससे यदि यह भी न हो सका तो समझ लो कि केवल अनुसरण करने का विचार रखने से हम हर प्रकार से नष्ट हो जाएँगे। अधिकार प्राप्त करने जाते ही हम दूसरों के आगे हाथ फैला देते हैं और नई वस्तु घड़ने जाते ही हम नकल करने बैठ जाते हैं। अपनी शक्ति और अपने मन की ओर, देश की स्थिति तथा देश के वास्तविक आदर्श की ओर हम ताकते

भी नहीं। हमें आंख उठाकर देखने का साहस तक नहीं होता। जिस शिक्षा की कृपा से हमारी यह दशा हो रही है, उसी शिक्षा को यदि एक नया नाम देकर नवीन रूप से उपस्थित कर दिया जाए तो उससे नए परिणाम निकलेंगे। इस प्रकार की आशा करके एक नई निराशा के मुख में प्रवेश करने की अब हमारी अभिलाषा तो नहीं होती ?

यह बात हमें स्मरण रखनी होगी कि 'जहाँ चन्दे में धन की मूसलाधार वर्षा होती है, वहीं भली प्रकार की शिक्षा दी जा सकती है' आदि-आदि बातों पर विश्वास करना उचित नहीं। क्योंकि धन मनुष्यता को नहीं खरीद सकता और यह भी कोई बात नहीं है कि जहाँ प्रबन्धकारिणी नित्य नये नियम बनाती रहती है, वहाँ शिक्षा का पौधा भली प्रकार फूलता-फलता है। क्योंकि केवल नियमों के अच्छा होने से मनुष्य के मन के लिए उचित भोजन नहीं मिल सकता। यह समझ बैठना भारी गलती है कि जहाँ बहुत से विषय पढ़ाने का प्रबन्ध होगा, वहां शिक्षा भी अधिक तथा उत्तम होगी। क्योंकि मनुष्य जो कुछ बनाता है वह न तो केवल बुद्धि से और न केवल बहुत कुछ सुनने-सुनाने से। जहाँ एकान्त में अध्ययन होता है, हम वहीं कुछ सीख सकते हैं। जहाँ गुरुजन तपस्या करते हैं, जहाँ एकान्त अभ्यास अर्थात् साधना होती है वहाँ हम अपनी शक्ति को बढ़ा सकते हैं। जहाँ एक वस्तु मन से दी जाती है, वहीं उसका मन से स्वीकार होना सम्भव हो सकता है। जहाँ शिक्षक स्वयं विद्याध्ययन में लीन रहते हैं, वहीं विद्यार्थी सरस्वती देवी का पूर्ण दर्शन कर सकते हैं। बाहर जहाँ प्राकृतिक वस्तुएँ बिना रोक-टोक बढ़ती तथा फूलती-फलती हैं, उस स्थान पर मन भी उन्नत होकर पूर्ण हो सकता है। जहाँ ब्रह्मचर्य द्वारा मनुष्य अपने शरीर को स्वस्थ तथा वशीभूत कर लेता है, वहीं धर्म-शिक्षा सरल और इसलिए उस

हो सकता है। परन्तु जहाँ पर केवल पुस्तकें तथा मास्टर, सिनेट (Senate) और सिंडिकेट (Syndicate), ईंटों के मकान और लकड़ी का सामान है, वहाँ हम जितने बड़े आज होकर उठे हैं, उतने ही बड़े होकर कल भी निकलेंगे।

कुछ समय हुआ 'स्पीकर' (Speaker) नामक सुविख्यात अंग्रेजी साप्ताहिक पत्र में आयरलैण्ड के शिक्षा संबंधी संस्कारों के विषय में एक आवश्यक प्रस्ताव प्रकाशित हुआ था। भारत-वासियों को उसके निम्नलिखित अंशपर विचार करना चाहिए।

"योरुप के जिस युग को अन्धकार का युग (Dark-Ages) कहते हैं, जिस समय जंगली जातियों के आक्रमणों की आँधी से रोम का दीप बुझ गया था, उस समय केवल आयरलैण्ड ही एक ऐसा देश था जहाँ शिक्षा की चर्चा शेष थी और जहाँ ज्ञान का प्रकाश जगमगा रहा था। उस समय आयरलैण्ड के विद्यालय ही योरुप के विद्यार्थियों के आश्रम थे। सातवीं शताब्दी के इतिहास के अध्ययन से विदित होता है कि वहाँ कई सहस्र विदेशों के रहने वाले विद्यार्थी अध्ययन में लीन थे। और उन सबको रहने के लिए मकान, खाद्य पदार्थ और पढ़ने के लिए पुस्तकें आदि मुफ्त प्रदान की जाती थीं।"

"उस समय योरुप के बहुत देशों में शिक्षा तथा ईसाई धर्म के प्राय: बुझे हुए दीप को आयरिश पादरियों ने पुनः चमका दिया था। आठवीं शताब्दी में फ्राँस के सम्राट् शारलमैन ने पैरिस विश्वविद्यालय का प्रबन्ध आयरलैण्ड के रहने वाले क्लेमैंसर नामक एक विद्वान् के हवाले कर दिया था।"

"पुरातन आयरिश पाठशालाओं में यद्यपि यूनानी, लातीनी आदि भाषाएँ सिखलाई जाती थीं, फिर भी सब प्रकार की शिक्षा आयरिश द्वारा दी जाती थी। अर्थात् उनकी अपनी भाषा ही माध्यम थी। गणित, भूगोल तथा उस काल की अन्य शिक्षाएँ सब आयरिश भाषा में ही दी जाती थीं। इसलिए उस

भाषा में किसी प्रकार के शब्दों की त्रुटि न थी। हर प्रकार के विचारों तथा बातों को प्रकट करने के लिए उचित और योग्य शब्द विद्यमान थे। जब आयरलैण्ड पर अंग्रेजों ने आक्रमण किया उस समय इन सब पाठशालाओं को आग लगा दी गई। सहस्रों वर्ष के एकत्र किए हुए ग्रन्थ तथा पुस्तक जलाकर स्वाहा कर दी गयीं और शिक्षक तथा विद्यार्थी भी मारे गये। परन्तु आयरलैण्ड के जो-जो स्थान इस अत्याचार से सुरक्षित रहे और स्वदेशी राजाओं के आधीन रहे, उनके बड़े-बड़े विद्यालयों में लगभग सोलहवीं शताब्दी तक समस्त शिक्षा-प्रणाली आयरिश ढंग के अनुसार ही चलती रही। इसके पश्चात् जब महारानी ऐलिजाबेथ के काल में युद्ध हुआ, उस समय जहाँ आयरलैण्ड के स्कूलों तथा विद्यालयों को नष्ट किया गया, वहाँ अप्रकाशित विद्याएँ भी जड़ से उखाड़ फेंकी गईं।"

"इस प्रकार आयरलैण्ड-वासी विद्या तथा ज्ञान चर्चा से वंचित रह गए और धीरे-धीरे उनकी मातृ-भाषा का निरादर होने लगा। इसके पश्चात् उन्नीसवीं शताब्दी में वहाँ 'नेशनल स्कूल' (राष्ट्रीय विद्यालय) शिक्षा-प्रणाली प्रचलित हुई। उस समय यह अत्यावश्यक तथा उचित था कि आयरिश जन इस प्रणाली (System) के लाभ तथा हानियों पर विचार कर लेते। परन्तु ऐसा नहीं हुआ और विद्या के प्यासे आयरलैण्ड वासियों ने बड़ी तत्परता से उसका स्वागत किया और अपनी प्यास बुझाने में लीन हो गए। उस समय आयरलैण्ड में जान मैक्हेल एक बड़ा विद्वान् उपस्थित था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसने इस शिक्षा-प्रणाली का विरोध किया और लोगों को समझाया कि इससे हमें अत्यन्त हानि होगी, परन्तु इसका कुछ भी परिणाम न निकला।"

"राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली प्रचलित करने का अभिप्राय

यह था कि आयरलैण्ड-वासियों को बलपूर्वक नये ढाँचे में ढालकर अंग्रेज बना दिया जाए। परन्तु प्रकृति ने भिन्न-भिन्न जातियों को इस प्रकार पृथक-पृथक ढंग से घड़ा है कि एक जाति दूसरी जाति नहीं बन सकती। यह चेष्टा व्यर्थ जातीहै।'

"जिस समय यह शिक्षा-प्रणाली आरम्भ की गई, उस समय अस्सी प्रतिशत आयरिश लोग अपनी भाषा बोलते थे। यदि शिक्षा देना ही नेशनल बोर्ड (National Board) की अभिलाषा होती तो उसके लिए उचित तथा आवश्यक था कि पहले आयरिश विद्यार्थियों को उनकी अपनी मातृ-भाषा में पढ़ना-लिखना सिखाकर फिर उसी मातृ-भाषा की सहायता से उन्हें विदेशी भाषाएँ सिखाने का प्रबन्ध करता। परन्तु ऐसा करने की अपेक्षा उसने बच्चों को नाना प्रकार के दण्डों का भय दिखा कर मातृ-भाषा का प्रयोग बन्द करने पर बाधित किया।"

"केवल भाषा ही नहीं बल्कि आयरलैण्ड का इतिहास पढ़ाना भी बन्द कर दिया गया। आयरलैण्ड का भूगोल भी भली प्रकार नहीं सिखाया जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि बच्चे अन्य देशों के इतिहास तथा भूगोल में तो प्रवीण हो गये परन्तु अपने इतिहास तथा अपने देश के भूगोल की विद्या से बिल्कुल अनभिज्ञ रह गये। अपने विषय में उन्हें कुछ भी जानकारी न हुई।"

"इसका परिणाम ठीक वही हुआ जो होना चाहिए था। आयरलैण्ड-वासियों के मन दुर्बल तथा अनुभव-हीन रह गये। बेचारे आयरिश विद्यार्थी बुद्धि और विचारशीलता लेकर पाठशालाओं में प्रविष्ट होने लगे और कुछ समय पश्चात् निकम्मा तथा दुर्बल मन लेकर वहाँ से निकलने लगे। कारण यह है कि यह शिक्षा-प्रणाली कल द्वारा चलने वाली प्रणाली है। इसका

मन पर प्रभाव नहीं पड़ता। मन अनुभव-हीन रह जाता है और बच्चे तोते बन जाते हैं।"

"प्रारम्भिक (Primary) शिक्षा के पश्चात् माध्यमिक शिक्षा (Intermediate Education) की सीढ़ी पर चढ़ना पड़ता है। आयरलैंण्ड में प्राय: अठासी वर्ष तक इस माध्यमिक शिक्षा की जाँच अथवा परीक्षण किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि वहाँ शिक्षा बिल्कुल पांव तले रुंद गई। जब परीक्षा के परिणाम का विशेष ध्यान रखा जाता है, परीक्षाओं में उत्तीर्ण करा देना ही जब शिक्षा का उद्देश्य रह जाता है, उस समय विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में वास्तविक शिक्षा देने की चेष्टा नहीं की जाती। केवल घोलकर पिला देने की युक्तियाँ निकाली जाती हैं। इससे सहस्रों विद्यार्थियों का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और बुद्धि भी उन्नति नहीं करती। जहां होती है वहीं रह जाती है। अत्यन्त परिश्रम करने के कारण उनका मन भली प्रकार फलने-फूलने भी नहीं पाता। इसकी शक्तियां दुर्बल हो जाती हैं और जिस शिक्षा की कृपा से यह सब-कुछ होता है, उसके लिए भी अभिलाषा नहीं रहती।"

"परन्तु इस अन्याय को बन्द करने के लिए आयरिश जाति निवेदन नहीं करती। वह न तो क्रान्ति उत्पन्न करना चाहती है और न प्राकृतिक नियमानुसार प्राकृतिक शिक्षा ग्रहण करने का अपना अधिकार प्रकट करने के लिए उछलना-कूदना चाहती है। परन्तु वह अपने देश की शिक्षा के प्रबन्ध का भार तथा उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना चाहती है। इसके व्यय के लिए भी सरकार को चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। आयरलैण्ड-वासी इसका भार संभालने के लिए तत्पर हैं। आयरलैण्ड को शिक्षा-विभाग के व्यय के लिए जो धन दिया जाता है वह बहुत ही थोड़ा है। इंगलिस्तान में जहां पुलिस

और न्यायालयों के लिए एक पौंड व्यय किया जाता है वहां शिक्षा पर आठ पौंड अर्थात् आठ गुना व्यय किया जाता है परन्तु आयरलैण्ड में जहां इंगलिस्तान की अपेक्षा बहुत कम अपराध होते हैं, पुलिस तथा न्यायालयों पर तो एक पौंड व्यय किया जाता है, परन्तु शिक्षा पर केवल १३ शिलिंग और ४ पेंस व्यय होते हैं।"

यह सत्य है कि एक देश के साथ किसी अन्य देश की हर प्रकार से ठीक-ठीक तुलना नहीं की जा सकती। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि जो शिक्षा-नीति इंगलिस्तान में प्रचलित है, ठीक वैसी ही भारत में चल रही है। परन्तु आयरलैण्ड के शिक्षा-सम्बन्धी संकटों पर दृष्टि डालने से विदित होता है कि बहुधा हमारे देश की स्थिति आयरलैण्ड से मिलती-जुलती है। अर्थात् आयरलैण्ड वालों की भांति हमारे मन पर भी हमारी शिक्षा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हमारी शिक्षा-प्रणाली भी कल के द्वारा चलती है। जिस भाषा में हमें शिक्षा दी जाती है उसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारा बहुत-सा अमूल्य समय लग जाता है और इतने समय तक हम उसके द्वार पर खड़े होकर हथौड़ा पीटने तथा ताला खोलने का अभ्यास करते-करते मर मिटते हैं। हमारा मन तेरह-चौदह वर्ष की आयु से ही ज्ञान का प्रकाश तथा भाव का रस प्राप्त करने के लिए खुलने और फैलने लगता है। उसी समय यदि उसके ऊपर किसी पराई भाषा के व्याकरण तथा शब्दकोष रटने के रूप में पत्थरों की वर्षा आरम्भ कर दी जाय तो बतलाइये कि यह सुदृढ़ एवं शक्तिशाली किस प्रकार हो सकता है? साधारणतः जब हम बीस-बाईस वर्ष की आयु तक निरंतर मस्तिष्क लड़ाते रहते हैं तब कहीं अंग्रेजी में कुछ योग्यता प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु तनिक भी ध्यान तो दीजिए कि इतने दिनों तक का हमारा मन

कौन-सा भोजन खाकर जीवित रह सकता है ? क्या हम विचार कर सकते हैं कि हमारा मन कौन-सा रस चूसता रहता है ? विचार-शक्ति या स्मरण-शक्ति उसी समय दृढ़ हो सकती है, जब हम जो कुछ प्राप्त करें, पढ़ें या सीखें, उसका साथ-ही-साथ वर्णन अथवा प्रयोग भी करते रहें। उसे प्रयोग में लाते रहें। परन्तु हमारी शिक्षा के समय यह बात नहीं होती। क्योंकि प्रथम तो पराई भाषा को ग्रहण करना ही कठिन है और जब ग्रहण कर ली जाये तो फिर उसका प्रयोग भी कुछ कम कठिन नहीं। इस प्रकार प्रयोग न कर सकने—प्रयोग में न लाने के कारण से हम जो कुछ पढ़ते-लिखते हैं, उस पर भी हमें पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। हम उस पर पूर्ण रूप से ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। हम केवल कुंजी अर्थात् "सफलता की कुंजी" आदि रट-रटाकर पढ़ने-लिखने का काम निकाला करते हैं। यदि कहें कि बड़ा होने पर हम अपनी इस दुर्बलता अथवा कमी को पूरा कर लेंगे—ठीक नहीं है। क्योंकि जिस आयु में मन अधिक पक जाता है, उस समय जो कुछ प्राप्त किया जाता है, उससे वास्तव में अधिक लाभ नहीं पहुंच सकता। अल्प आयु में मन स्वयं हमारे जाने बिना ही अपना भोजन खींचता तथा चूसता रहता है। उस समय वह ज्ञान तथा भाव को अपने रोम-रोम में भली प्रकार मिलाकर स्वयं ही जीवित तथा शक्तिशाली बना लेता है। परन्तु हमारी आयु का यही अमूल्य भाग एक सूखी तथा ऊसर भूमि में जहाँ कोसों तक हरियाली तथा पानी का चिह्न नहीं मिलता, नष्ट कर दिया जाता है। इस मरुस्थल में हमारे स्वास्थ्य तथा बुद्धि को कितनी हानि पहुंच रही है—इस बात का अनुमान लगाना कुछ सरल कार्य नहीं है।

यह हमें अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली से हमारा मन अधूरा तथा अयोग्य रह जाता है। हमारी

बुद्धि का पूर्ण रूप से विकास नहीं होता। वह अपूर्ण रह जाती है। मस्तिष्क वास्तविक उन्नति नहीं कर पाता। हममें स्वतन्त्र रूप से किसी विषय पर विचार करने तथा सोचने की शक्ति उत्पन्न ही नहीं होती। हमारा ज्ञान बहुत थोड़े अन्तर तक रह जाता है। हम दूसरों की सहायता अथवा आश्रय लिए बिना किसी बात के विषय में अपनी व्यक्तिगत धारणा स्थापित नहीं कर सकते, हम नकल करते हैं, उदाहरण तथा उपमा ढूंढ़ते हैं और जिन बातों को अपनी निजी धारणाएं बतलाते हैं वे या तो किसी प्रस्ताव अथवा पुस्तक के रटे-रटाये विचारों की गूंज अथवा प्रतिबिम्ब होती हैं। या फिर बिलकुल ही बच्चों के खेल जैसी वस्तुएं होती हैं। या तो हम भयभीत हो जाते हैं और कायरतावश लोगों के पद-चिह्नों पर चलते हैं या फिर अपनी अज्ञानता के कारण उल्टा-सीधा मार्ग पकड़ लेते हैं। परन्तु हम यह बात कदापि स्वीकार नहीं कर सकते कि हमारी बुद्धि में ही प्राकृतिक दुर्बलता एवं त्रुटि है। हमारी शिक्षा-प्रणाली में जो बड़े-बड़े अवगुण हैं, उनके होते हुए भी हम जो थोड़े ही समय में अपना सिर ऊपर उठा सकते हैं, यह हमारी व्यक्तिगत बड़ाई तथा महिमा के कारण है। हमारी शिक्षा-प्रणाली उस पर अभिमान नहीं कर सकती।

एक बात और भी है। यदि शिक्षा देने के अभिप्राय से साथ-साथ, भीतर ही भीतर कोई और अभिप्राय भी छिपा हुआ हो तो उससे दोष उत्पन्न हो जाते हैं और सरासर हानि होती है। आयरिश लोगों को शिक्षा देने के अभिप्राय के साथ जो उनको लूटने की अभिलाषा मिली हुई थी, उससे उनकी शिक्षा ही धूल में मिल गई। हमारी सरकार भी हमारी शिक्षा में अपनी राजनीतिक अभिलाषाएं पूर्ण करने की चेष्टा किया करती है। इसका समझना कठिन नहीं, अति सरल बात है।

शिक्षा के क्षेत्र में भी या भारतवासियों की स्वतन्त्रता हर प्रकार से कम करने का कारण यही है कि सरकार शिक्षा को भी अपने प्रभुत्व में लेना चाहती है ताकि उस पर भी अपना पूरा अधिकार जमा ले और अपने आधीन कर ले। इसीलिए शिक्षा-विभाग के अयोग्य निर्देशकों की अध्ययन की हुई अपरिचित मैकमिलन्ज कम्पनी की बनाई हुई अति अपूर्ण, अधूरी और खराब शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकें (देशी भाषाओं में) प्रकाशित होती हैं और उन्हें पढ़कर ही हमारे बच्चों को मनुष्य बनना पड़ता है। हमारे महाविद्यालयों में पढ़ाई की पुस्तकें ऐसे ढंग से चुनी जाती हैं कि उनसे ज्ञान प्राप्ति की अभिलाषा पूरी नहीं होती—क्योंकि राजनीतिक अभिलाषाओं को पूरा करना भी दृष्टिगोचर होता है।

केवल यही नहीं, अनुशासन (Discipline) की कल को जितना घुमाने से बालकों को वश में किया जा सकता है उसकी अपेक्षा कहीं अधिक घुमाने की चेष्टा की जाती है। बच्चों में जो चंचलता होती है वह बिलकुल स्वाभाविक होती है और उसका उनके स्वास्थ्य पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है। इस बात को अंग्रेज कम-से-कम अपने बच्चों के लिए भली प्रकार समझते हैं। वे जानते हैं कि यदि इस चंचलता को दबाया न जाए, बल्कि ठीक-ठीक मार्ग पर डाल दिया जाए तो यही एक बात मनुष्य के चरित्र को सुदृढ़ और बुद्धि को अधिक युक्तिसंगत बना देती है। इस चंचलता को उत्पन्न करने में प्राकृतिक एक अत्यन्त लाभदायक अभिप्राय है। वे लोग इसे बुरा नहीं समझते, इसलिए जो व्यक्ति विद्वान हैं वे बचपन तथा बालपन की चंचलता की भिन्न-भिन्न प्रकार की खेलों से रुष्ट नहीं होते। सदा अपेक्षा करते हैं तथा प्यार की दृष्टि से देखते हैं। उन्हें दबा देने और रोकने की कदापि चेष्टा नहीं करते। इंगलिस्तान

के लोगों में इस अपेक्षा की बहुत चर्चा है। वहाँ यह गुण (अर्थात् बच्चों की चंचलता से न घबड़ाना) बहुत ही अच्छा समझा जाता—यहाँ तक कि हमें आवश्यकता से भी अधिक दिखाई देता है।

जो स्वयं सोच सकें, स्वयं किसी बात की जाँच कर सकें और स्वयं ही दूसरों की सहायता के बिना अपना कार्य कर सकें इस प्रकार के मनुष्य तैयार करने की विधि और है और जो दूसरों की हाँ में हाँ मिलाते रहें, दूसरों के सम्मुख न हो सकें, उनकी बातों के प्रति उत्तर में स्वयं कुछ न कह सकें, केवल दूसरों की सवारी के घोड़े बनकर रहें—इस प्रकार के मनुष्य पैदा करने की युक्ति और है। यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं कि हम प्राकृतिक रूप में ही अपनी जाति को स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए तैयार करने की चेष्टा करेंगे। हमारी यह अभिलाषा प्राकृतिक नियम के विरुद्ध नहीं है। इंग्लिस्तान के जब भले दिन थे तो वह भी किसी जाति को इस प्राकृतिक अभिलाषा को पूर्ण करने से नहीं रोकता था। उसके मार्ग का रोड़ा न बनता था। भारत की शिक्षा-सम्बन्धी नीति के विषय में लार्ड मैकाले ने जो (सन्देश) डिस्पैच (Despatch) प्रकाशित किया था, वह 'स बात का बहुत बड़ा प्रमाण है। परन्तु अब समय बदल गया है इसलिए शिक्षा के आदर्श के विषय में हमारी सरकार के साथ देश-भक्तों की छेड़-छाड़ आरम्भ हो गई है। हम तो चाहते हैं पूर्वोक्त प्रथम प्रकार की शिक्षा-प्रणाली, और सरकार प्रचलित रखना चाहती है दूसरी प्रकार की शिक्षा-प्रणाली को। परन्तु हम अपने देश में इन विद्यालयों तथा महाविद्यालयों द्वारा आज्ञापालन तथा दासता को चिरस्थायी बनाने के लिए किसी भी प्रकार सहमत नहीं हो सकते। इसलिए अब समय आ गया है कि शिक्षा-पद्धति का ठीक-ठीक निर्णय हो

जो कुछ उचित हो उसे शीघ्रता तथा दृढ़ संकल्प से कर दिया जाए। इसके लिए सरकार से अनुमति ले ली जाए। परन्तु उचित यही है कि वह इस कार्य में भाग न ले। जनता के अज्ञान से ही सरकार शक्तिशाली है। सरकार इस बात से अनभिज्ञ नहीं और यही कारण है कि वह सदा जनता में वास्तविक शिक्षा का प्रकाश फैलाने का विरोध करती है। अब हमें इस बात को भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि जनता में विद्या का प्रकाश फैलाने के बहाने सरकार अज्ञान का अंश बढ़ाती है। और उसके इस कार्य को हमें अवश्य रोकना चाहिए। सरकार घर, विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय तथा हर प्रकार की सभाएँ, संस्थाएँ आदि स्थापित करके शिक्षा के प्रचार की सब दिखावटी बातों में लगी हुई है। इन सब संस्थाओं (Institution) का प्रबन्ध फिर भी सरकार के हाथ में है। अच्छा तब ही अच्छा है और विद्या तब ही विद्या है जब वह सम्पूर्ण तथा सच्ची हो। परन्तु यदि डिलेनाफ अथवा डोरनोवो को अपनी आवश्यकताओं के अनुसार सच्ची भलाई तथा ज्ञान के प्रकाश में मतभेद कर डालें तो वह न सच्ची भलाई है और न सच्चा ज्ञान। मैं जब किसी अमूल्य, निःस्वार्थ, संयम तथा बलिदान से भरे हुए प्रयास निष्फल जाते देखता हूँ तो मुझे वास्तव में बड़ा कष्ट होता है, यह देखकर बहुत दुःख होता है कि देश के अच्छे और बुद्धिमान लोग सरकार के विरुद्ध सत्याग्रह करने में अपनी शक्ति लगा रहे हैं, परन्तु सरकार से टक्कर लेने के लिए वह उन्हीं सिद्धान्तों का आश्रय लेते हैं जिन्हें वह जैसा चाहती है बना देती है—अर्थात् जो उसी सरकार के बनाए हैं।"

जो कुछ अत्यन्त-आवश्यक अथवा अनिवार्य हो उसी की लपेट में पड़े रहना मनुष्य का कर्त्तव्य नहीं। हम लोग एक विशेष सीमा तक तो आवश्यकता की हथकड़ियों तथा बेड़ियों में जकड़े रहते हैं और कुछ सीमा तक स्वतन्त्र रहते हैं। हमारा शरीर साढ़े तीन हाथ का है। परन्तु साढ़े तीन हाथ का ही घर बनाने से हमारा निर्वाह नहीं हो सकता। उसमें भली प्रकार स्वतन्त्रता से इधर-उधर आने-जाने तथा चल फिर सकने के लिए लम्बा-चौड़ा स्थान रखना पड़ता है। वरन् हमारे आनन्द तथा स्वास्थ्य में विघ्न पड़ने की संभावना होती है। हम स्वस्थ तथा प्रसन्न नहीं रह सकते। शिक्षा के विषय में भी यही कहा जा सकता है। केवल आवश्यक शिक्षा की सीमा में बच्चों, बालकों तथा बालिकाओं को बन्दी बना रखने से उनके मन की साधना नहीं हो सकती। आवश्यक शिक्षा के साथ-साथ यदि फालतू अध्ययन-क्रम से बाहर के पाठ न पढ़ाएँ, और बातें न सिखलाई जाएँ, तो बच्चे पूर्णतः मनुष्य नहीं बन सकते। आयु में बड़े हो जाने पर भी वास्तव में बच्चे ही रह जाते हैं।

दुर्भाग्य से हमें समय की सुगमता प्राप्त नहीं। जितनी शीघ्रता से सम्भव हो सकता है, विदेशी भाषाएँ सीख कर और उनमें योग्यता की परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर कार्य करना पड़ता है। इसलिए बाल्यावस्था से ही हमें इसके अतिरिक्त कि यहाँ-वहाँ इधर-उधर देखे बिना घुड़दौड़ के घोड़ों की भाँति दौड़ते जाएँ, पाठ स्मरण करने में किसी से पीछे न रह जाएँ... और किसी बात के लिए समय नहीं मिलता। यही कारण है कि बच्चों के हाथ में पाठशाला की पढ़ाई की पुस्तक के अति-

रिक्त यदि कोई दूसरी मनोरंजक या कोई और उपयोगी पुस्तक देख ली जाती है तो वह शीघ्र ही छीन ली जाती है।

और उपयोगी पुस्तकें यहां आएँ भी तो कहाँ से ? प्रथम तो हमारी भाषा में इस प्रकार की पुस्तकें हैं ही नहीं और जो थोड़ी बहुत हैं भी, उनका होना न होना एक समान है। क्योंकि हमारे बच्चों को मातृभाषा ऐसे ढंग से सिखाई ही नहीं जाती कि वे घर बैठकर स्वन्तत्र रूप से किसी पुस्तक को पढ़कर उसका आनन्द ले सकें। वे बेचारे अंग्रेजी भी इतनी नहीं जानते कि उस भाषा की बालकों की पुस्तकें पढ़ सकें तथा उनका अर्थ समझ सकें। प्रथम तो उनकी अंग्रेजी की योग्यता ही बहुत थोड़ी होती है, दूसरे बालकों के लिए उपयोगी पुस्तक (अँग्रेजी) ऐसी भाषा में लिखी होती हैं—उनमें इतनी अधिक गृहस्थी की बातें, कहावत-कथाएँ तथा बोल-चाल की अँग्रेजी होती है कि बड़े-बड़े बी० ए०, एम० ए० भी कभी-कभी उन्हें भली प्रकार नहीं समझ सकते।

वास्तव में बात यह है कि परमात्मा ने हमारे देश के बच्चों के भाग्य में अँग्रेजी वर्णमाला, शब्दकोष तथा भूगोल के अतिरिक्त और कुछ लिखा ही नहीं। इन जैसा भाग्यहीन शायद ही संसार में और कोई हो ! अन्य देशों के बच्चे जिस आयु में अपने नए-नए निकले दाँतों से प्रसन्नतापूर्वक गन्ने चूसते हैं, उसी आयु में हमारे देश के बच्चे पाठशाला की बेंचों पर बैठकर अपने छोटे-छोटे दुर्बल पाँव हिला-हिलाकर केवल ऐसे बेंत पचाते रहते हैं, जिनमें शिक्षक महोदय की कड़वी कसैली गालियों के अतिरिक्त और किसी प्रकार का मनोरंजक मसाला नहीं लगा होता।

परिणाम इसका यह होता है कि शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार का भोजन पचाने की शक्ति कम हो जाती है। अर्थात् जिस प्रकार उचित भोजन तथा मन-भाते खेल-कूद के

अभाव से बच्चों के शरीर दुर्बल तथा दुबले-पुतले हो जाते है उसी प्रकार उनके मन भी दुर्बल हो जाते हैं। उसमें भोजन पचाने की शक्ति नहीं रहती। उसमें विचारों को उत्पन्न करने तथा उनको बढ़ावा देने की शक्ति पैदा ही नहीं होती। इस कल की दुर्बलता का परिणाम होता है कि यद्यपि हम बी० ए०, एम० ए० आदि बड़ी-बड़ी डिगरियाँ प्राप्त कर लेते हैं और ढेर-की-ढेर पुस्तकें निगल जाते हैं, तथापि हमारी बुद्धि भी अधूरी रहती है। भली प्रकार पकने नहीं पाती। इतनी योग्यता भी नहीं कि किसी विषय को हर ओर से समझ सकें अथवा स्व-तंत्र रूप से उसके सम्बन्ध में कुछ कह सकें। हमारे विश्वास तथा धारणाएँ, हमारी बोल-चाल, हमारा रहन-सहन, हमारे विचार आदि हमारा कुछ भी स्वतंत्र तथा एक प्रकार का नहीं होता। यही कारण है कि हम अपने मन की दुर्बलता को बाहरी आन बान, प्रदर्शन तथा उछल-कूद से ढाँपने तथा छिपाने की चेष्टा किया करते हैं।

इसका विशेष कारण यही है कि बचपन से हमारी शिक्षा के साथ प्रसन्नता अथवा आनन्द का मेल नहीं होता। जो कुछ आवश्यक होता है, हम केवल वही कंठस्थ किया करते हैं। इस अभ्यास से हमारा कार्य तो किसी-न-किसी प्रकार चल ही निकलता है परन्तु हमारी बुद्धि उन्नति नहीं करती। यद्यपि वायु खाने से पेट नहीं भरता, भोजन खाने से ही भरता है। तथापि भोजन को भली प्रकार पचाने के लिए, उसे घोलकर शरीर का अंग बनाने के लिए वायु खाने की भी आवश्यकता पड़ती है। उसी प्रकार पाठ्य-पुस्तकों को भली प्रकार पचाने के लिए, उनका अर्थ समझने के लिए अन्य मनोरंजक वस्तुओं की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। क्योंकि इस प्रकार मनो-रंजन के साथ-साथ पढ़ने से पाठ्य-शक्ति अज्ञात रूप से स्वयं

बढ़ती चली जाती है और सोचने-समझने की शक्ति भी खूब उन्नति करती है।

परन्तु बहुत विचार-विनियम करने पर भी हम यह नहीं समझ सकते हैं कि मानसिक शक्तियों को नष्ट करने वाली इस आनन्द-रहित शिक्षा के पंजे से हमारे बच्चों का किस प्रकार छुटकारा होगा।

अंग्रेजी हमारी भाषा नहीं विदेशियों की भाषा है। हमारी भाषा के शब्द अंग्रेजी भाषा के शब्दों से मिलते-जुलते नहीं। उसके विचार तथा विषय भी विदेशी हैं। उसकी सभी बातों से हम अनभिज्ञ हैं। इसलिए विचार-शक्ति उत्पन्न होने के पूर्व ही हमें सब बातों को कंठस्थ करने की आवश्यकता पड़ती है। फिर भी हमारी स्थिति वही होती है जो उस व्यक्ति की हुआ करती है जो भोजन को बिना चबाये ही निगल जाता है। अनुमान करिये कि एक अंग्रेजी बालक को रीडर (पाठ्य-पुस्तक) में 'Hay making' के सम्बन्ध में एक कथा को पढ़ने से बड़ा आनन्द प्राप्त होता है क्योंकि वह इसको भली प्रकार जानता है। इसी प्रकार Snow Ball के पाठ में जो वार्तालाप Chrlie तथा Katie में हुआ था, उसको भी अंग्रेजी बालक तथा बालिकाएँ बड़े चाव से पढ़ते तथा उसका आनन्द उठाते हैं। परन्तु जब हमारे बच्चे इन बातों को एक विदेशी भाषा में पढ़ते हैं तो उन्हें किसी प्रकार आनन्द नहीं प्राप्त होता है और न Hay making अथवा (Snow Ball) के सम्बन्ध में किसी प्रकार के विचार उनके मन में उत्पन्न होते हैं। उनके मन पर कोई साफ चित्र अथवा आकृति अंकित नहीं होती। उन्हें नेत्रहीन मनुष्य की भाँति मार्ग टटोलकर चलना पड़ता है।

प्रारम्भिक कक्षाओं में जो शिक्षक पढ़ाते हैं, साधारणः उनमें से कोई तो एंट्रेंस पास होते हैं और शेष एंट्रेंस फेल।

अंग्रेजी भाषा, विचार, सभ्यता तथा रीति-रिवाज से भी भली प्रकार परिचित नहीं होते। अंग्रेजी के साथ हमारे मन का पहले-पहल यही लोग परिचय कराते हैं। ये न तो जानते हैं अच्छी मातृभाषा और न समझते हैं अच्छी अंग्रेजी भाषा। हाँ, बच्चों को सिखलाने की अपेक्षा ये भुलाना खूब जानते हैं और इस बात में उन्हें सफलता भी खूब मिलती है।

परन्तु इन बेचारों का इसमें दोष ही क्या है? 'Horse is a noble animal' यह अंग्रेजी भाषा का एक अत्यन्त साधारण वाक्य है। यदि इसका हिन्दी में अनुवाद किया जाए तो हिन्दी भी ठीक नहीं होती और अंग्रेजी का अर्थ भी बिगड़ जाता है। घोड़ा एक बड़ा पशु है—घोड़ा एक ऊँची श्रेणी का पशु है—घोड़ा बहुत अच्छा पशु है—किसी प्रकार अनुवाद कर दीजिए परन्तु किसी प्रकार से भी इसका अर्थ इतना अच्छा प्रकट नहीं होता जैसा कि चाहिए। इसलिए ऐसे अवसर पर शिक्षक को अवश्य कुछ-न-कुछ गड़बड़ करनी पड़ती है। हमारी प्रारम्भिक अंग्रेजी शिक्षा में न जाने कितनी बार गड़बड़ी मचाई जाती है अर्थात् इस अवस्था में जो अंग्रेजी सिखाई जाती है वह इतनी साधारण और इतनी अस्पष्ट होती है कि उसकी पढ़ाई में किसी प्रकार का रस निचोड़ना बच्चों के लिए प्रायः असम्भव है। परन्तु इस बात की तो कोई आशा नहीं करता कि बच्चे इसमें किसी प्रकार का आनन्द प्राप्त करें। शिक्षक तथा विद्यार्थी दोनों ही कहते हैं कि "हमें रस से कोई सम्बन्ध नहीं। यदि हमने खींचतान कर किसी प्रकार अर्थ निकाल लिया तो बस कार्य सिद्ध हो गया। बला टल गई। परीक्षा में उत्तीर्ण होते ही नौकरी तैयार है।

ऐसी स्थिति में बच्चों के भाग्य में शेष क्या रह गया? यदि वे अपनी मातृ-भाषा सीखते तो रामायण आदि ग्रन्थों का अध्य-

यन तो कर सकते। यदि कुछ भी न सीखते तो कम-से-कम खेलने को तो समय मिलता। वृक्षों पर चढ़कर, पानी में तैरकर, पुष्प तोड़कर, प्रकृति के साथ सहस्रों खेल खेलकर मनोरंजन तथा मानसिक शान्ति तो प्राप्त कर सकते थे। परन्तु अंग्रेजी की पढ़ाई में लीन रहने से न तो पढ़ाई हुई, न खेलना ही हुआ और न प्रकृति के सच्चे तथा वास्तविक साम्राज्य में प्रवेश करने का अवसर प्राप्त हुआ ! साहित्य का आनन्द उठाने से भी बेचारे वंचित रहे। हमारे भीतर तथा बाहर दो विशाल और स्वतन्त्र घूमने-फिरने के मैदान हैं। उन्हीं दो मैदानों से हम जीवन-शक्ति तथा स्वास्थ्य का अमूल्य धन प्राप्त करते हैं। उन्हीं स्थानों से भाँति-भाँति के रंग, भिन्न-भिन्न प्रकार के चित्र तथा आकृतियाँ, नाना प्रकार के विचार तथा प्रसन्नताएँ उठ-उठकर हमारी शरीरिक तथा बौद्धिक उन्नति तथा बढ़ावे में सहायता देती हैं। परन्तु शोक ! हमारे भाग्यहीन बच्चे उन दोनों के मातृ-प्रेम से अलग होकर एक विदेशी बन्दीगृह में बेड़ियों से जकड़ कर रखे जाते हैं। ईश्वर ने जिनके लिए माता-पिता के मन में प्रेम की लहरें चला दी हैं, माता की गोदी को सरस कर दिया है, उन्हीं बच्चों को अपनी बाल्यावस्था का अमूल्य समय एक विदेशी भाषा की वर्णमाला तथा शब्दकोष आदि स्मरण करने में नष्ट करना पड़ता है, जिसमें न जीवन है न किसी प्रकार का आनन्द अनुभव होता है। न कोई नई बात है और न इधर-उधर हिलने-डुलने के लिए एक तिल-भर स्थान ही है। वर्णमाला तथा शब्द-कोष की इन अत्यन्त सूखी, सड़ी हुई तथा स्वादरहित हड्डियों को चबाते रहने से क्या बच्चों के मन तथा मस्तिष्क उन्नति कर सकते हैं। क्या उनमें विशेष योग्यता उत्पन्न हो सकती है? और क्या उनका चरित्र निर्मल तथा सुदृढ़ बन सकता है ? क्या वे बड़े होकर भी अपनी बुद्धि से कोई कार्य कर सकते हैं ?

अपनी शक्ति द्वारा अपनी उन्नति में बाधक होने वाली रुकावटों को दूर कर सकते हैं ? क्या वे अपने प्राकृतिक तेज से प्रत्येक अवस्था में अपना सिर ऊचा रख सकते हैं ? क्या वे दुबले-पतले, अस्वस्थ पीले तथा मुर्झाई मुखाकृति वाले डरपोक, साहस-रहित तथा जीते-जी मर जाने से बच सकते हैं? कदापि नहीं! वे केवल कंठस्थ करना, नकल करना तथा सेवा करना ही सीख सकेंगे।

कोई व्यक्ति एकाएक बालक से युवक नहीं हो जाता। बाल्यावस्था में परिवर्तित होते-होते काफी समय के पश्चात् यौवन आता है। विचार-शक्ति तथा अध्ययन-शक्ति ये दोनों बहुत मूल्यवान वस्तुएँ हैं—यही जीवन का विशेष आश्रय तथा रक्षा स्थान हैं। परन्तु ये ऐसी वस्तुएँ नहीं हैं कि यौवनकाल में एकाएक काम पड़ते ही, हमारे चाहते ही, हमारे पास आ खड़ी हों। हमारे हाथ-पाँव की भाँति यह भी हमारे जीवन के साथ-साथ क्रमशः बढ़ती रहती हैं। ये किसी पहले से तैयार की हुई वस्तु की भाँति नहीं हैं कि जब आवश्यकता हुई या जब मन चाहा बाजार से खरीद लिया।

इसमें तनिक भी संदेह की संभावना नहीं है कि विचार-शक्ति तथा अध्ययन-शक्ति दोनों जीवन-यात्रा के लिए बहुत लाभदायक तथा आवश्यक हैं। मनुष्य बनने अथवा वास्तविक रूप में मनुष्यता प्राप्त करने के लिए इन दोनों शक्तियों के बिना कदापि निर्वाह नहीं हो सकता। यदि हम बाल्यावस्था से इनके पालन-पोषण की ओर ध्यान न देंगे तो समय पड़ने पर हमें ये तैयार नहीं मिलेंगी।

परन्तु हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में इन दोनों शक्तियों को बढ़ाने तथा उन्नति देने का मार्ग ही प्रायः बिल्कुल बन्द है। हमें बहुत समय तक भाषा-विज्ञान की शिक्षा में ही लीन रहना पड़ता है। ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि अंग्रेजी भाषा

एक अत्यन्त कठिन विदेशी भाषा है। और हमारे शिक्षकों में इतनी कम योग्यता होती है कि हमारे मन में अंग्रेजी शब्दों के साथ-साथ अंग्रेजी विचार उत्पन्न नहीं होते। इसीलिए अंग्रेजी विचारों से थोड़ी-सी जानकारी प्राप्त करने के लिए हमें बहुत-सा अमूल्य समय नष्ट करना पड़ता है। और उस समय तक हमारी विचार-शक्ति, अपने लिए कुछ कार्य न होने, खाली पड़े रहने के कारण सर्वथा निरर्थक पड़ी रहती है। ऐंट्रेंस तथा एफ० ए० तक हमारा समय केवल काम चलाऊ अंग्रेजी सीखने में ही व्यतीत होता है। इसके उपरान्त शीघ्र ही बी० ए० में अकस्मात् हमारे सम्मुख बड़ी-बड़ी पुस्तकें और आवश्यक तथा विचारणीय विषय रख दिए जाते हैं। उस समय न तो हमें उनको भली प्रकार समझने का अवसर ही मिलता है और न ही उनको समझ सकने की हममें योग्यता होती है। इसलिए विवश होकर सबको मिलाकर, एक बड़ा-सा गोला बनाकर एक ही ग्रास में उसे निगल जाना पड़ता है।

हम निरन्तर पढ़ते तो चले जाते हैं परन्तु उसके साथ-साथ विचारते तथा समझते नहीं। हम ईंटों तथा चूने के ढेर को ऊंचा तो करते जाते हैं परन्तु उसे प्रयोग करने योग्य नहीं बनाते। अर्थात् अपनी बुद्धि की सहायता से उसे धूप तथा वर्षा में आश्रय तथा विश्राम देने वाले मकान के रूप में बनाते नहीं। इस प्रकार ईंट, रेत, चूना, सीमेंट, खम्बे तथा लोहे आदि का ढेर पर्वत की भांति प्रतिदिन ऊँचा होता चला जाता है। ठीक उसी समय महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय की ओर से आदेश मिलता है कि एक तीन खण्ड वाले मकान की छत तैयार करो। बस फिर क्या है? शीघ्र ही आदेश पालन की तैयारी की जाती है और हम उक्त ढेर की शिखा पर चढ़कर दो ही वर्षों में ठोक-पीटकर किसी-न-किसी भाँति उसके ऊपर वाले

भाग को समान तथा समतल कर देते हैं। और जब वह ढेर कुछ-कुछ छत जैसा दृष्टिगोचर होने लगता है, तो कह देते हैं कि 'लीजिए तीन खण्ड वाले मकान की छत तैयार हो गई।' किन्तु क्या इसे भव्य भवन अथवा तीन खण्ड वाला मकान कह सकते हैं? वायु तथा प्रकाश के उचित रीति से आने जाने के लिए इसमें कोई मार्ग होता है? क्या कोई व्यक्ति ऐसे भवन में देर तक रह सकता है? क्या संसार की तेज धूप तथा प्रचण्ड वायु और वर्षा से यह भवन हमारी रक्षा कर सकता है? क्या इसमें किसी प्रकार की रचना अथव ासुन्दरता दिखाई देती है?

यह सत्य है कि जितना सामान (मलबा) एकत्र किया गया है, वह पर्याप्त है। मन के भवन का निर्माण करने के लिए इतनी ईंटें, चूना, रेत, सीमेंट आदि हमें पहले प्राप्त न होते थे। परन्तु यह समझ लेना भूल है कि एकत्र करना सीख लेने से किसी को निर्माण करना भी आ जाता है। वास्तव में जब दोनों कार्य साथ-साथ होते रहते हैं, अर्थात् मलबा एकत्र होता रहता है और इसके साथ ही भवन का निर्माण भी होता रहता है जिसमें वह एकत्र मलबा प्रयोग होता है, उसी समय कार्य पक्का तथा सुदृढ़ बनता है। परन्तु हमारे देश में इसके सर्वथा विपरीत कार्य हो रहा है। मनुष्य एक ओर को बढ़ता है और उसकी शिक्षा दूसरी ओर को बढ़ती है। एक ओर तो खाद्य पदार्थ इतनी मात्रा में एकत्र हो रहा है कि रखने को स्थान नहीं और दूसरी ओर क्षुधा इतनी बढ़ रही है कि पेट अपनी गर्मी से स्वयं ही जला जाता है। इस प्रकार हमारे देश में एक विचित्र तमाशा हो रहा है।

इसलिए यदि आप अपने बच्चों को मनुष्य बनाना चाहते हैं तो उन्हें बचपन से ही मनुष्य बनाने की चेष्टा करें। वरन् वे बच्चे ही रह जायेंगे। मनुष्य नहीं बन सकेंगे। बचपन से स्मरण-

शक्ति पर ही सारा बोझ न लाद कर बच्चों की अपनी विचार-शक्ति तथा अध्ययन-शक्ति को बढ़ाने का भी अवसर देना चाहिए। जिस प्रकार धरती को बोने योग्य बनाने के लिए प्रातः से सायंकाल तक केवल हल चलाना तथा मिट्टी के ढेले फोड़ना ही पर्याप्त नहीं है, उसी प्रकार इस मनुष्य जीवन को काम के योग्य बनाने के लिए, इस मूल्यवान धरती को अति उपजाऊ बनाने के लिए केवल रटना और परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाना ही पर्याप्त नहीं है। इस सूखी मिट्टी के सहित इसे सदा जारी रहने वाले फोड़ने-फाड़ने के साथ-साथ कुछ रस भी होना चाहिए। क्योंकि मिट्टी में जितना अधिक रस होगा उतना ही खाद्यान्न भी अधिक तथा अच्छा होगा। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे अवसर हैं जिनमें धरती के लिए वर्षा की अति आवश्यकता हुआ करती है। यदि वह अवसर निकल जाए तो फिर चाहे कितनी भी वर्षा हो, परन्तु लाभ नहीं होता। यौवन-काल के समय जीवन को रसिक बनाने और इसका सुधार करने के लिए सोचने-विचारने की आवश्यकता है। साहसपूर्ण विचारों तथा धारणाओं का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। उस समय यदि साहित्य के आकाश से एक अच्छी वर्षा हो जाती है तो सारा कार्य सिद्ध हो जाता है। जब मन नया-नया उठकर, मातृ-भूमि से बाहर निकलकर विशाल धरती तथा असीमित आकाश की ओर सिर उठाकर देखता है, जब बाहरी संसार से उसका नया मिलाप होता है—जब नए लक्षण, नया प्रेम तथा नया चाव उसे चारों ओर से आकर घेरते हैं, यदि उस समय विचारों की सुहावनी वायु चल पड़ती है और चिरस्थायी प्रसन्नता की गोदी से प्रकाश तथा आशीर्वाद की लहरें बहने लगती हैं तो उन बीजों का, उन पंखुड़ियों का सारा जीवन अवसर पाकर सफल, आनन्दित तथा सम्पूर्ण हो जाता है। परन्तु

यदि उस समय वह सूखी मिट्टी तथा गरम-गरम रेत से ढाँप दिया जाए—अर्थात् आनन्द-रहित शब्दावली तथा वर्णमाला को रटने के अतिरिक्त और कोई कार्य न हो और तत्पश्चात् अत्यधिक वर्षा हो जाने पर भी योरुप के साहित्य की नवीन साहसपूर्ण सच्चाइयों तथा उच्च विचारों की वर्षा होने पर भी वह कदापि उचित रीति से सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। साहित्य की भीतरी जीवन प्रदान करने वाली शक्ति उनके जीवन पर प्राकृतिक रूप से तनिक भी प्रकाश नहीं डाल सकती।

परन्तु हमारी आनन्द रहित, रूखी, फीकी तथा निर्जीव शिक्षा के कारण जीवन की वह बड़ी शक्ति व्यर्थ चली जाती है। हम कुछ रटी हुई बातों का बोझ खींचते हुए शिशुकाल से बालपन और बालपन से यौवनावस्था में प्रवेश करते हैं। रटते-रटते हमारी कमर झुक जाती है। परन्तु इसपर भी हमारा मनुष्यत्व भली प्रकार फलता-फूलता नहीं। फिर जब हम अंग्रेजी विचारों की सीमा में प्रविष्ट होते हैं तो उस क्षेत्र में भी लीन होकर खेल-कूद, घूमने-फिरने में व्यस्त नहीं हो सकते। यद्यपि एक प्रकार से इन विचारों को हम समझ लेते हैं, परन्तु उन्हें भली प्रकार अपने पर अंकित नहीं कर सकते। उन्हें बार-बार दोहराते हैं! परन्तु फिर भी अपने वास्तविक जीवन में उन्हें प्रयोग नहीं कर सकते। अर्थात् वे विचार हमारे बाहर-ही-बाहर रह जाते हैं। वे हमारे भीतर नहीं जा सकते। हमारे मन के साथ उनका लगाव अथवा सम्बन्ध पैदा नहीं होता।

इस प्रकार निरन्तर बीस-बाईस वर्ष तक हम जिन विचारों को सीखते हैं, उनका हमारे जीवन के साथ (Chemical Compound) (रासायनिक मिश्रण) अथवा योग नहीं होता। इसलिए हमारा मन एक विचित्र रूप धारण कर लेता है।

हमारे इन सीखे हुए विचारों में कुछ तो बाहर से हमारे साथ चिपकाए अथवा जोड़े हुए होते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जो थोड़े समय के पश्चात् उड़ जाते हैं। जिस प्रकार कुछ जंगली मनुष्य —असभ्य—अपने शरीर पर रंग-बिरंगे चित्र आदि अंकित करके अपनी सुन्दरता पर मान करते हैं—और अपने शरीर की प्राकृतिक सुन्दरता को ढक देते हैं—उसी प्रकार हम भी इस विदेशी शिक्षा का रंग अपने शरीर पर मलकर अभिमान में अकड़ते फिरते हैं। परंतु हमारे वास्तविक भीतरी जीवन के साथ उनका बहुत ही थोड़ा संबंध होता है। जिस प्रकार असभ्य तथा वहशी क्षेत्रों के राजा अथवा नेतागण कांच के टुकड़े आदि सस्ती विदेशी वस्तुएं पाकर अपने शरीर में जहां-तहां लटका लेते हैंपरन्तु यह नहीं जानते कि सभ्य संसार की दृष्टि में उनका यह कार्य कितना हास्यास्पद है। उसी प्रकार हम भी थोड़ी बहुत चमकीली तथा भड़कीली परंतु सस्ती विदेशी बातों को लेकर अकड़ते फिरते हैं और विदेशों के बड़े-बड़े तथा अमूल्य विचारों का बिल्कुल असमय पर तथा बेढंगा प्रयोग करते हैं। हम नहीं समझते कि अज्ञानता के कारण हम सारे संसार को हंसाने वाला कैसा विचित्र नाटक खेल रहे हैं इस पर भी यदि हम अपनी इस करतूत पर किसी को हँसता देख लेते हैं तो शीघ्र ही योरुप के इतिहास से बड़े-बड़े उदाहरण निकाल कर उसके सम्मुख उपस्थित करने के लिए तत्पर हो जाते हैं? यदि बचपन से ही हमें भाषा-विज्ञान की शिक्षा के साथ-साथ विचारों की शिक्षा दी जाए और यह विचार हमारे जीवन में मिलते चले जाएं अर्थात् हमारे दैनिक जीवन का भाग बनते जाएं और हमारे चरित्र पर उनका उचित प्रभाव पड़ता रहे तो हमारे समस्त जीवन में वास्तविक अनुकूलता उत्पन्न हो सकती है। अति सरलता से जैसे चाहिए वैसे मनुष्य

बन सकते हैं और भाषा, विचार तथा जीवन उचित मात्रा में परस्पर मिल सकते हैं।

यदि हम एक बार भली प्रकार से विचार करके देखें तो हमें पता लग जायगा कि जिन विचारों से प्रभावित होकर अथवा जिस ढंग या रीति से हमें अपना जीवन व्यतीत करना है, हमारी शिक्षा उसके अनुकूल नहीं है। हमें जिस मकान में आजीवन रहना है, उस घर का कोई सुन्दर चित्र हमारी शिक्षा सम्बंधी पुस्तकों में विद्यमान नहीं है। जिस सोसायटी अथवा समाज में हमें अपना जीवन बिताना है, उसका कोई भी उच्चादर्श हमारी शिक्षा-सम्बंधी पुस्तकों में नहीं पाया जाता। हम अपने माता-माता पिता को, भाई बहिन को, सगे-सम्बंधियों को उसमें स्पष्ट रूप से नहीं देख सकते। हमारी दिन-चर्या को इसमें स्थान नहीं मिलता। हमारे आकाश तथा धरती, हमारी लुभावनी प्रातः तथा सुहावनी संध्या और हमारी हरी-भरी घास की भूमि उसमें दिखाई नहीं देती। इससे हम भली प्रकार समझ सकते हैं कि हमारी शिक्षा तथा हमारे जीवन में कदापि कोई अनुकूलता नहीं हो सकती। दोनों के मध्य एक पर्वत खड़ा रहेगा। यह शिक्षा हमारे वास्तविक जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं को कदापि पूरा न कर सकेगी। जिस स्थान पर हमारे जीवन की दीवार खड़ी है, उससे सैकड़ों गज के अन्तर पर शिक्षा की वर्षा होती है। ऐसी स्थिति में जो थोड़ा बहुत रस, मार्ग की कठिनाईयों को पार करके हम तक पहुँचता है, वह हमारे जीवन की नीरसता दूर करने, उसकी प्यास बुझाने के लिए पर्याप्त नहीं। हम जिस शिक्षा को प्राप्त करने के लिए अपना समस्त जीवन व्यतीत कर देते हैं, वह हमें केवल बाबूपन अथवा अन्य किसी ऐसे ही व्यवसाय के योग्य बना देती है। वह इससे अधिक कुछ भी भलाई नहीं कर सकती। जिस

सन्दूक या आलमारी में हम अपने दफ्तर को पहन कर जाने वाले वस्त्र तह करके रखते हैं, उसी में हम अपनी सारी शिक्षा भी बन्द कर देते हैं। आठ पहर के दैनिक जीवन में उनका प्रयोग कदापि नहीं करते। यह सब वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की कृपा है। इसके लिए विद्यार्थियों को दोष देना सर्वथा अन्याय है। उन बेचारों का इसमें तनिक भी दोष नहीं। क्योंकि उनका पाठ्य-जीवन एक ओर स्थित होता है और व्यवहारिक जीवन दूसरी ओर। मध्य में केवल वर्णमाला, व्याकरण तथा शब्दकोष का पुल है। इसलिए हमें यह देख कर तनिक भी विस्मय नहीं होता कि जो व्यक्ति पाश्चात्य विज्ञान तथा धारणाओं में प्रवीण है वही नीच तथा अपमानित संस्कारों, रीतियों तथा झूठी धारणाओं को बनाए रखने की चेष्टा करता है। जो व्यक्ति अपने व्याख्यानों द्वारा स्वतन्त्रता के उच्चादर्श का प्रचार करता है, वही दासता तथा पराधीनता की सहस्रों जंजीरों तथा मकड़ी के जालों में स्वयं को तथा दूसरों को फँसा कर दुर्बल होता जा रहा है। जो व्यक्ति अति उत्तम विचारों से भरे हुए साहित्य का पूर्ण स्वतन्त्रता से अध्ययन करता है, वही अपने विचारों को ऊँचे शिखर तक नहीं पहुंचा सकता, उसका जीवन अधिक गिरा हुआ है। केवल रुपया कमाने तथा साँसारिक उन्नति प्राप्त करने की धुन में लीन हो रहा है। ऐसे व्यक्तियों के ज्ञान तथा व्यवहार के मध्य एक दुर्गम अन्तर पड़ जाता है जिसके फलस्वरूप ये दोनों कभी भली प्रकार नहीं मिल सकते—आपस में विरोध सदा विद्यमान रहता है।

इसका परिणाम यह होता है कि दोनों ओर से विरोध परस्पर बढ़ता चला जाता है। हमारे प्राप्त ज्ञान के साथ हमारे जीवन तथा हमारे व्यवहार का युद्ध सदा ही जारी रहता है। इससे उस शिक्षा पर आरम्भ से ही भरोसा तथा विश्वास नहीं

रहता। हम समझने लगते हैं कि यह शिक्षा एक प्रकार का भ्रम है और यही समस्त पाश्चात्य सभ्यता का आश्रय-गृह है। परन्तु हमारा जो कुछ है वह सभी सत्य है। हमारी यह शिक्षा हमें जिस ओर का मार्ग बतला रही है, उस ओर सभ्यता नाम की एक विश्वासघातिनी तथा झूठी डायन का राज्य है। उस ओर जाना हमारे लिए हानिकारक तथा भयंकर है। हम यह तो नहीं समझते कि हमारे दुर्भाग्य से किसी विशेष कारण से ही हमारी शिक्षा, हमारे लिए हानिकारक सिद्ध हो रही है। परन्तु इसके विपरीत यह विश्वास कर बैठते हैं कि शिक्षा के भीतर ही प्राकृतिक दोष विद्यमान हैं। इस प्रकार हम अपनी शिक्षा की ओर से जितने असावधान होते जाते हैं और हमारा अविश्वास बढ़ता जाता है, हमारी शिक्षा भी हमारे जीवन तथा उसकी आवश्यकताओं की ओर से उतनी ही मुख मोड़ती तथा असावधान होती चली जाती है। वह हमारे चरित्र पर तथा हमारे व्यवहारिक जीवन पर पूर्ण रूप से प्रभाव नहीं डाल सकती। अर्थात् हमारी शिक्षा तथा जीवन के मध्य अन्तर तथा अवधि निरन्तर बढ़ती ही रही है। इस प्रकार के अपूर्ण ज्ञान तथा अपूर्ण जीवन की कृपा से भारतवासियों का जीवन एक नाटक अथवा स्वांग का रूप धारण कर रहा है।

अब यह बतलाइये कि जिस शिक्षा के लिए हमने अपने जीवन का एक तिहाई भाग खो दिया है, यही यदि हमारे जीवन के साथ कोई सम्बन्ध अथवा मेल-मिलाप न रखे और किसी दूसरी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने से भी हमें वंचित कर दे तो हमारा उद्धार फिर किस प्रकार हो सकता है? इस समय हमारे सम्मुख सबसे अधिक विचारणीय तथा आवश्यक प्रश्न यही है कि हमारी शिक्षा तथा जीवन में समानता किस प्रकार पैदा हो सकती है?

हमारी मातृ-भाषा तथा मातृ-भाषा का साहित्य ही इस परस्पर समानता को स्थापित कर सकते हैं। जिस समय बंगाल में सबसे पहले स्वर्गीय बाबू बंकिमचन्द्र चैटर्जी का 'बंग-दर्शन' नवीन प्रातः की भाँति निकला था उस समय सारे शिक्षित बँगाल में एक किनारे से लेकर दूसरे किनारे तक प्रसन्नता का दृश्य क्यों बंध गया था ? क्या 'बंग-दर्शन' में कोई ऐसी बात थी जो योरुप की विचार-धारा, विज्ञान अथवा इतिहास में न पाई जाती हो ! नहीं ! 'बंग-दर्शन' में ऐसी कोई विशेषता न थी। परन्तु एक उच्च-कोटि के लेखक ने 'बंग-दर्शन' का आश्रय लेकर अंग्रेजी शिक्षा के तथा हमारे मन के मध्य अन्तर को दूर कर दिया था। दूर देशों में गए हुए घर के व्यक्ति को फिर घर में लाकर वहाँ प्रसन्नता तथा आनन्द का दृश्य बना दिया था, श्रीकृष्ण के द्वारका चले जाने के कारण बीस-पच्चीस वर्ष से उनके दर्शन नहीं हुए थे। 'बंग-दर्शन' दूत बनकर उन्हें फिर हमारे वृन्दावन धाम में वापस ले आया। उस समय हमारे घरों में, हमारे समाज में, हमारे मन में एक प्रकार का नवीन प्रकाश फैल गया। हमारे मन इस प्रकाश से चमक उठे। हमने अपनी स्त्रियों को सूर्यमुखी तथा कमनमणी के रूप में देखा। अपने देशवासी चन्द्र-शेखर तथा प्रताप को अपने विचारों के सिंहासन पर बड़ा ऊँचा स्थान दिया। हमारे दैनिक जीवन में प्रकाश की विचित्र झलक दिखाई देने लगी।

'बंग-दर्शन'—के अतुल्य तथा नवीन रस का स्वाद चखने का बंगाल में परिणाम यह हुआ कि आजकल के शिक्षित जन बंगला-भाषा में अपने विचार प्रकट करने का साहस करने लगे हैं। वे यह समझ गये हैं कि अंग्रेजी हमारी व्यावहारिक (business) भाषा हो सकती है परन्तु व्यक्तिगत विचारों को प्रकट करने के लिए यह भाषा उचित नहीं है। हमने स्पष्ट रूप

से देखा है कि यद्यपि हम बचपन से बड़े परिश्रम के साथ अंग्रेजी सीखते रहे हैं, परन्तु बंगाल का वर्तमान साहित्य (ऐसा साहित्य जिसके चिरकाल तक विद्यमान रहने की आशा की जा सकती है) थोड़ा बहुत जो कुछ भी है, बंगला भाषा में प्रकाशित हुआ। इसका एक विशेष कारण यह है कि भारतवासी अंग्रेजी भाषा से अपने मन को इस प्रकार मिलाकर एक नहीं कर सकते कि वे उसके द्वारा साहित्य के स्वतंत्र विचारों को प्रकट कर सकें। यदि किसी प्रकार अंग्रेजी भाषा से घनिष्ठ सम्बन्ध हो भी जाए तो यह भी निश्चित है कि भारतीय विचारों को अंग्रेजी भाषा में इतनी सुन्दरता से प्रकट नहीं किया जा सकता जैसे कि स्वदेशी भाषा में। जो बातें अथवा विचार प्रकट होने के लिए हमारे मन को उकसाते हैं और जिन संस्कारों अथवा धारणाओं ने हमारे मन को चिरकाल से एक विशेष प्रकार के साँचे में ढाल रखा है, उनको विदेशी भाषाओं में भली प्रकार स्वतंत्र रूप से प्रकट नहीं किया जा सकता।

हमारे शिक्षित युवक जब अपने विचारों को प्रकट करने की चेष्टा करते हैं तो उसके लिए मातृ-भाषा का आश्रय लेते समय उनके मन में एक प्रकार की घबराहट पैदा होती है। परन्तु शोक ! हमारी स्वदेशी भाषा ऐसी नहीं कि इतने समय के निरादर तथा मान-हानि को भूलकर बुलाए जाते ही शीघ्र अपनी समस्त सुन्दरता तथा मान के साथ एक ऐसे व्यक्ति के सम्मुख कर जोड़ कर खड़ी हो, जो अपनी शिक्षा का अभिमान करता हो। ऐ शिक्षित युवक ! क्या तुम स्वदेशी भाषा के वास्तविक ऐश्वर्य को समझते हो ? क्या तुमने कभी इसका मर्म समझने की चेष्टा की है ? तुम यह सम्भवतः सोचते होगे कि हमने मिल (Mill) तथा स्पेंसर (Spencer) की कृतियों का अध्ययन किया है, बड़ी-बड़ी डिगरियाँ तथा सनदें प्राप्त की हैं,

इसलिए हम स्वतन्त्र रूप से सोचने-समझने की योग्यता रखने वाले साहित्यकार तथा पूर्ण विद्वान हैं । इसलिए जब बहुत से भाग्यहीन कन्याओं के बोझ से दबे हुए अर्थात् जिनके घर में दुर्भाग्य से कन्या ने जन्म लिया है, माता-पिता अपनी कन्या तथा धन लेकर हमारे द्वार पर सिर टकराते फिरते हैं, तो अशिक्षित गँवार लोगों के घर को इस नीच भाषा के लिए वे भी उचित था कि हमारा संकेत पाते ही वह हमारी शरण लेती और अपना जीवन सफल करती । किसी गँवारू भाषा को इससे अधिक सौभाग्य क्या प्राप्त हो सकता है कि हम जीवन भर अंग्रेजी सीखकर भी उसमें लिखने की कृपा करते हैं, जब हम अंग्रेजी भाषा में सुगमता से मिल जाने वाली प्रतिष्ठा की अवहेलना करके अपने उच्चतम तथा मूल्यवान विचारों के मोती इस बेचारी (स्वदेशी) भाषा में बड़े विशाल हृदय तथा साहस से बखेरने के लिए तत्पर है । जिस प्रकार कोई निर्धन राही राजा को आते देख कर बड़े सम्मान से मार्ग छोड़कर एक ओर खड़ा हो जाता है, उसी प्रकार हमारे मार्ग में आने वाली रुकावटों तथा कठिनाइयों को भी उचित था कि वे घबराकर हमारे सामने से हटकर एक ओर खड़ी हो जातीं । देशवासियों ! एक बार तनिक विचार करके तो देखो कि हम तुम पर कैसी कृपा करने के लिए तत्पर हैं । हम तुम्हें राजनैतिक समस्या (Political-Economy) की बीसियों बातें बतलाएं । भूगोल के के विषय में हमने जो कुछ सीखा है उसे आरम्भ से लेकर अन्त तक सब तुम्हें सुना देंगे । कुछ भी छुपाने की चेष्टा न करेंगे । अपने ऐतिहासिक तथा विचारशील विषयों के संक्षिप्त रूप में संसार की दूसरी भाषाओं की मान्य परन्तु कठिन पुस्तकों से असंख्य बातें जोड़ करके दिखा देंगे । यह भी तुम्हें बतला देंगे कि आविष्कारकों तथा विद्वानों की विदेशी साहित्य के विषय

में क्या-क्या सम्मति है। परन्तु यदि यह तुम्हारी गँवारू भाषा आदेश पाते ही हमारे सन्मुख उपस्थित न होगी तो हम उसमें एक शब्द भी न लिखेंगे। हम वकालत करेंगे, स्वास्थ्य अधिकारी, पुलिस के डिप्टी सुप्रिन्टेंडेंट, न्यायाधीश, डिप्टी कलक्टर बन जायेंगे और जी में आया तो अंग्रेजी समाचार पत्रों में लेख भी लिखेंगे। परन्तु तुम्हारी भाषा का फिर कभी नाम तक भी न लेंगे। विचार करो, इससे तुम्हें कितनी हानि होगी।

इस बात को देश का दुर्भाग्य न कहा जाय तो और क्या कहा जा सकता है कि न तो हमारी मातृ-भाषा ही इन अंग्रेजी-बाज नवयुवकों का सम्मान अथवा आदर करती है और न यह नवयुवक ही अपना मिथ्या अभिमान तज कर इससे मिलाप करने की चेष्टा करते हैं। यहाँ तक कि यह लोग अपनी मातृ-भाषा में कभी पत्र तक नहीं लिखते। अपने मित्रों तथा प्रियजनों से मिलते समय भी जहाँ तक संभव हो सकता है, अंग्रेजी में ही बोलते हैं। और स्वदेशी भाषाओं की पुस्तकों को अपने घर में प्रवेश तक नहीं करने देते। इसी को छोटे दोष के लिए बड़ा दण्ड कहते हैं।

ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि बचपन में हमें जो शिक्षा दी जाती है, उसमें भाषा-विज्ञान के साथ विचारों की शिक्षा नहीं मिलती और जब वह समय निकल जाता है तो ठीक उसके विपरीत प्रयोग होता है। अर्थात् उस समय जब विचार उत्पन्न होने लगते हैं तो भाषा नहीं मिलती। इस बात का भी वर्णन हो चुका है कि भाषा-विज्ञान के साथ-साथ विचारों की शिक्षा नहीं दी जाती। इसलिए हमारे तथा पाश्चात्य विचारों के मध्य समानता का सम्बन्ध नहीं होता। और यही कारण है कि आज-कल के बहुत से शिक्षित लोगों ने पाश्चात्य बातों की ओर से मुख मोड़ना आरम्भ कर दिया है। इसके अतिरिक्त वे विचार

के साथ-साथ अपनी मातृ-भाषा के साथ ही घनिष्ठ सम्बंध पैदा नहीं कर सकते। परिणाम यह है कि इससे भी बड़े अन्तरों पर जा पड़े हैं। और इसकी ओर से उनके मन में एक प्रकार की अवहेलना-सी हो गई है। ऐसे शिक्षित व्यक्ति इस बात को तो स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं करते कि हम अपनी मातृ-भाषा नहीं जानते। परन्तु यह कह कर अपनी दुर्बलता को छिपाने की चेष्टा करते हैं कि "क्या हमारी मातृ-भाषा द्वारा हर प्रकार के विचार प्रकट किये जा सकते हैं। स्वदेशी भाषा शिक्षित लोगों के काम की नहीं।" वास्तव में बात यह है कि जब हम अंगूर नहीं तोड़ सकते तो उन्हें खट्टे बतला दिया करते हैं। और जो कार्य हमारी शक्ति से बाहर हो उसकी प्रशंसा करने के स्थान पर निन्दा करने लग जाया करते हैं।

चाहे किसी विचार-दृष्टि और किसी ओर से क्यों न देखा जाए, यह मानी हुई बात है कि हमारे विचार, हमारी भाषा तथा हमारे जीवन में परस्पर समानता नहीं है। इन तीनों का संगठन हमारे भाग्य में नहीं है। कहते हैं कोई निर्धन भिखारी था। वह सर्दियों में भिक्षा माँग-माँगकर जिस समय जाड़े के वस्त्र खरीदने के योग्य होता था तो उस समय गर्मी के दिन आ जाते थे। और गर्मी के दिनों में प्रयत्न करके जब हलके वस्त्र खरीदने के योग्य होता था तो सर्दी फिर आन पहुँचती थी। देवता ने जब उसकी दुरावस्था पर दया करके उसे शुभ आशीर्वाद देना चाहा तो उसने कहा, "मैं और कुछ नहीं चाहता। केवल मेरा यह हेर-फेर मिटा दीजिये। मैं जो गर्मी के दिनों में सर्दी के वस्त्र और जाड़े के दिनों में गर्मी के वस्त्र पहनता हूँ, यदि आप इस गड़बड़ को दूर कर दें तो मेरा जीवन सफल हो जाए।"

हमारी भी परमात्मा से यही प्रार्थना है। भाषा तथा भाव

के सम्बन्ध में हेर-फेर मिटते ही हम सफल हो जायेंगे। हमको जाड़े में गर्म वस्त्र और गर्मी में ठंडे वस्त्र नहीं मिलते। यह हमारी समस्त निर्धनता की जड़ है और इसीलिए हम तिरस्कार की खाई में पड़े लुढ़कते हैं। वरन् हमें किस वस्तु का अभाव है? वह कौन-सी वस्तु है जो हमारे पास उपस्थित नहीं है? इस समय हम परमात्मा से यही वरदान मांगते हैं कि "हमारे लिए भूख के साथ अन्न, सर्दी के साथ वस्त्र, भाषा के साथ भाव तथा शिक्षा के साथ जीवन एक स्थान पर कर दो। उन्हें एक दूसरे के साथ मिला दो। उन्हें पृथक न रहने दो।" इस समय हमारी यह स्थिति हो रही है—

जल में भी मीन प्यासी।
सुनकर किसे न आवे हाँसी॥

हमारे पास जल है। परन्तु फिर भी हमें प्यास सता रही है। यह देखकर संसार तो खूब हँस रहा है। परन्तु हमारे नेत्रों से आँसू टपक रहे हैं। क्योंकि जल के समीप होने पर भी हम उससे वंचित हैं। उसे पीकर अपनी प्यास नहीं बुझा सकते।

मनुष्य के पाँव का तलवा ऐसे ढंग से बनाया जाता है कि खड़े होकर धरती पर चलने के लिए इससे अच्छी स्थिति और नहीं हो सकती। चलने के लिए इससे अच्छा प्रबन्ध नहीं हो सकता। परन्तु जिस दिन से जूतों का पहनना आरम्भ हुआ, उस दिन से पाँव के तलवों को धूल आदि से सुरक्षित रखने की चेष्टा ने उनकी वास्तविक आवश्यकता तथा उनके प्राकृतिक अभिप्राय को ही धूल में मिला दिया। जिस अभिप्राय से वे बनाए गए हैं, लोग उसे भूल ही गए। इतने दिनों तक हमारे तलवे सुगमता से हमारा बोझ सहन करते थे। परन्तु अब तलवों का बोझ हम स्वयं उठाते हैं। क्योंकि अब यदि हमें बिना जूतों के अर्थात् नंगे-पाँव चलना पड़ता है तो तलवे हमारी सहायता करने की अपेक्षा पग-पग पर कष्टदायक सिद्ध होते हैं। केवल इतने पर ही बस नहीं। हमें उनकी ओर से सदैव सचेत तथा सावधान रहना पड़ता है। क्योंकि यदि हम अपने मन अथवा मस्तिष्क को अपने तलवों की सेवा में क्रियाशील न रखें तो हमें दु:ख उठाना पड़े। यदि इन्हें तनिक भी ठंड लग जाए तो छींके आने लग जाती हैं। और यदि कहीं पानी छू जाए तो ज्वर चढ़ जाता है। विवश होकर जूतों, स्लीपर, बूटों आदि द्वारा हम अपने पाँव की पूजा करते हैं। और उन्हें अन्य कार्यों से मुक्त कर देते हैं। उन्हें किसी काम का नहीं रखते। परमात्मा ने हमें खुर प्रदान नहीं किए। संभवत: इसलिए हम इस पर अपनी इस क्रिया से दोष लगाना चाहते हैं।

प्राकृतिक तथा अपनी स्वतन्त्र शक्ति के मध्य विश्राम तथा सुगमता के लिए हमने इसी प्रकार न जाने कितनी रुका-

वटों की दीवार खड़ी कर रखी हैं। इस प्रकार संस्कार तथा चिरकालीन अभ्यास तथा स्वभाव से हम उस बनावटी आश्रय (अभिप्राय उन वस्तुओं से है जिनका हम आश्रय लेते हैं) को विश्राम और अपनी प्राकृतिक योग्यताओं को कष्ट समझने लगे हैं। वस्त्र पहन-पहनकर हमने उन्हें इस स्थिति पर पहुँचा दिया है कि वस्त्र हमारे माँस से भी बड़े हो गए हैं। अब हम ईश्वर के इस अद्भुत सुन्दर नंगे शरीर को निरादर तथा उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे हैं।

परन्तु जब हम प्राचीन-काल की ओर ध्यान देते हैं तो विदित होता है कि वस्त्रों तथा जूतों को अन्धे की लाठी की भाँति पकड़ रखने का नियम हमारे गर्म देश में नहीं था। प्रथम तो वैसे ही हम बहुत ही कम वस्त्रों का प्रयोग करते थे। दूसरे हमारे बच्चे बचपन में कई वर्ष तक कपड़े-जूते कदापि नहीं पहनते थे। और बिना किसी संशय के नग्न प्रकृति के साथ अपने नग्न शरीर का मेल-मिलाप तथा सम्बन्ध बनाए रखते थे परन्तु अब हमनें अंग्रेजों का अनुक्रमण करके बच्चों के शरीर देखकर भी लज्जित होना आरम्भ कर दिया है। केवल विलायत हो आनें वाले भद्र मनुष्यों पर ही यह बात निर्भर नहीं। बल्कि नगरों के रहने वाले साधारण घरानों के मनुष्य भी अपनें बच्चों को किसी अतिथि अथवा अपरिचित के सम्मुख नंगे खड़े देखकर लज्जा तथा संकोच अनुभव करते हैं।

ऐसा करने से हमारे देश के शिक्षित लोगों में एक प्रकार की बनावटी लज्जा उत्पन्न हो रही है। जिस आयु तक शरीर के विषय में किसी प्रकार की लज्जा अथवा संकोच न होना चाहिए, उस आयु को अब हम पार नहीं कर सकते। अब हमारे समीप मनुष्य जन्म से लेकर मृत्यु तक लज्जाजनक बनता चला जा रहा है। यदि कुछ समय तक हमारी यही स्थिति रही तो

एक दिन ऐसा भी आएगा जब कि हम मेज तथा कुर्सी के पायों को बिना ढका अथवा नंगा देखकर क्रोधित होने लगेंगे।

यदि यह केवल लज्जा की बात होती तो मैं विरोध न करता। परन्तु इससे संसार में दुःख बढ़ता है। हमारे बच्चे व्यर्थ कष्ट उठाते हैं। इस समय वह प्रकृति के देनदार हैं। सभ्यता का ऋण उठाना उन्हें उचित नहीं लगता। परन्तु बेचारे क्या करें। रोने के अतिरिक्त उनके पास और कौन-सी शक्ति है। अपने माता-पिता की लज्जा दूर करने और उनका मान बढ़ाने के लिए उन्हें रेशम तथा जरी के वस्त्रों से घिर कर स्वच्छ तथा खुली वायु और प्रकाश से वंचित रहना पड़ता है। इसलिए वे रोकर, चिल्लाकर बहरे जज के कानों तक अपनी बाल्यावस्था की घटना पहुंचाया करते हैं। परन्तु बेचारे यह नहीं जानते कि माता-पिता में राज्य तथा न्याय सम्बन्धी दोनों अधिकार एक साथ उपस्थित होने के कारण उनके सब प्रयास और विलाप व्यर्थ होते हैं।

इससे बच्चों का पालन-पोषण करने वालों को भी कष्ट होता है। क्योंकि असमय में लज्जा उत्पन्न हो जाने से व्यर्थ में बखेड़े बढ़ जाते हैं। जो सभ्य मनुष्य नहीं हैं, सीधे-सादे बच्चे हैं, उन पर भी व्यर्थ सभ्यता का बोझ लादकर पैसा बर्बाद करना आरम्भ कर दिया जाता है। नग्नावस्था में एक विशेषता यह है कि उसमें होड़ आदि नहीं है। परन्तु वस्त्रों में यह बात नहीं है। उनसे अभिलाषाओं की मात्रा तथा विलास सामग्री धीरे-धीरे बढ़ती ही चली जाती है। बच्चों का स्वच्छ तथा सुन्दर शरीर धन आदि दिखलाने का एक बहाना बना लिया जाता है। और उन पर सभ्यता का असीमित तथा असह्य बोझ व्यर्थ में लाद दिया जाता है।

इस बात के विषय में अब हम स्वास्थ्य-विज्ञान अथवा अर्थ

शास्त्र की दलीलें नहीं देना चाहते। क्योंकि यह विषय हम शिक्षा के सम्बन्ध में लिख रहे हैं। धरती, जलवायु तथा प्रकाश के साथ पूरा-पूरा तथा स्वतंत्र रूप से सम्बन्ध न होने से शरीर की पूर्णरूप से देख-भाल नहीं हो सकती। हमारा मुख सर्दी तथा गर्मी में हर समय समान रूप से खुला रहता है। इसलिए हमारे मुख का मांस शरीर के शेष अंगों की अपेक्षा अधिक सशक्त है। इसलिए वह इस बात को भली प्रकार जानता है कि बाहरी संसार के साथ अपनी समानता तथा मेल-मिलाप बनाए रखने के लिए किस प्रकार चलना चाहिए। उसे किसी बनावटी वस्तु का आश्रय ढूंढ़नें अथवा सहायता लेनें की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वह स्वयं ही हर प्रकार से पूर्ण है।

यहाँ पर हम यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि हम मानचेस्टर के व्यापारियों को हानि पहुँचाने के लिए वर्तमान अंग्रेजी राज्य में नंगे रहने का प्रचार नहीं करना चाहते। हमारा अभिप्राय केवल यह है कि शिक्षा देने की एक विशेष आयु है और वह बाल्यावस्था है। उस समय शरीर तथा मन का पूर्णरूप से पालन-पोषण करने के लिए प्रकृति के साथ हमारा खुला मिलाप होना चाहिए। उसमें किसी प्रकार की रोक-टोक न हो। वह ढाँपने, बन्द करने की आयु नहीं है। उस समय सभ्यता की तनिक भी आवश्यकता नहीं होती। परन्तु जब हम देखते हैं कि बाल्यावस्था से ही बच्चों के साथ सभ्यता का युद्ध छिड़ जाता है तो हमें बड़ा दुःख होता है। बच्चा वस्त्र उतार कर फेंक देना चाहता है और हम उसे लादना चाहते हैं। यदि विचार करके देखा जाए तो विदित होगा कि यह लड़ाई-झगड़ा यह खींचातानी बच्चों के साथ नहीं होती बल्कि प्रकृति के साथ होती है। प्रकृति में एक अति प्राचीन ज्ञान उपस्थित है। जिस समय बच्चे को कोई वस्त्र पहनाया जाता है, उस समय प्रकृति

का वही ज्ञात बच्चे के रोने में से गूंजने लगता है। हम सब उसी प्रकृति की सन्तान हैं।

चाहे किसी प्रकार हो, सभ्यता के साथ कुछ सीमा तक सम्बन्ध-विच्छेद की आवश्यकता है। कम-से-कम सात वर्ष की आयु तक बच्चों को सभ्यता के क्षेत्र तथा उसके शासन से बिल्कुल बाहर रखना चाहिए! वास्तव में सात वर्ष भी बहुत ही कम हैं। इस आयु तक न बच्चों को सज-धज की आवश्यकता है और न किसी प्रकार के संकोच की। इस समय तक जंगलीपन की शिक्षा ही सबसे आवश्यक शिक्षा है और यह सबको मिलनी चाहिए। प्रकृति को बिना रोक-टोक इस प्रकार की शिक्षा देने दो। बच्चों को इसके प्रभाव में रहने दो और प्रकृति का प्रभाव रखने के लिए किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करो। यदि इस समय भी बच्चे धरती की गोद में लेटकर अपने शरीर को धूल-मिट्टी से लथपथ न करेंगे तो उनको फिर यह स्वर्ण अवसर कब प्राप्त हो सकेगा? यदि यह भाग्यहीन इस आयु में भी वृक्षों पर चढ़कर फल न तोड़ सकेंगे तो फिर सभ्यता के संकोच में उलझकर वृक्षों, पौधों, फलों, फूलों से जीवन-भर कभी भी मेल-मिलाप का सम्बन्ध स्थापित न कर सकेंगे। इस समय वायु, प्रकाश, मैदान, वृक्ष, पत्ते, फूल आदि की ओर उनके मन और शरीर का जो प्राकृतिक खिंचाव अथवा लगाव होता है, चारों ओर से उन्हें जो निमंत्रण आते हैं, उनके मध्य यदि वस्त्रों द्वारा अथवा फसीलों की बाधा डाल दी जाए तो बच्चों की शक्ति तथा प्रवास रुककर सड़ने लगेंगे।

ज्योंही कोई बच्चे को वस्त्र पहनता है, उसे वस्त्रों का ध्यान रखने के लिए आग्रह करने की आवश्यकता पड़ती है। यह समझाने की आवश्यकता अनुभव होती है कि वस्त्र मैले न होने पाएँ। हम इस बात को प्रायः भूल जाते हैं कि बच्चे का भी

कोई मूल्य है कि नहीं। परन्तु दर्जी के पैसों को शायद ही कभी भूलते हों। यह वस्त्र फट गया, यह मैला हो गया, उस दिन इतना मूल्य देकर यह सुन्दर कोट बनवाया था, अभागा पता नहीं कहाँ से इसमें स्याही के धब्बे लगा लाया इत्यादि। इस प्रकार की सैकड़ों बातें कहकर बच्चों को खूब धमकाया तथा पीटा जाता है। इस प्रकार के दण्ड से उसे सिखाया जाता है कि बाल्यावस्था के समस्त खेलों और सारे आनन्द की अपेक्षा वस्त्रों के विषय में कितनी सावधानी की आवश्यकता है अर्थात् खेल-कूद तथा आनन्द की अपेक्षा वस्त्रों का मूल्य कितना अधिक है। हमारी समझ में नहीं आता कि जिन वस्त्रों की बच्चों को तनिक भी आवश्यकता नहीं, उनके लिए इन बेचारों को इस प्रकार उत्तरदायी क्यों बनाया जाता है और ईश्वर ने जिनके लिए बाहर से असंख्य समाप्त न होने वाले सुखों का प्रबन्ध कर रखा है, और जिनके मन को उसने यह योग्यता प्रदान की है कि वे उन्हें भोग सकें, इनका आनन्द उठा सकें उन्हें वस्त्रादि के प्रेम की जंजीरों में अकारण जकड़ने की क्या आवश्यकता है? क्या मनुष्य प्रत्येक स्थान पर अपनी अयोग्य बुद्धि तथा सदा मचलते रहने वाली प्रकृति का शासन फैलाकर प्राकृतिक सुख एवं शान्ति के लिए कहीं भी स्थान न रहने देगा? यह बड़ी अजीब युक्ति है कि जो कुछ हमें अच्छा लगता वह अवश्य ही दूसरों को भी अच्छा लगना चाहिए। विदित होता है कि हमने इस अजीब युक्ति का प्रयोग करके संसार में चारों ओर दुःख ही दुःख फैलाने का निश्चय कर लिया है।

चाहे कुछ भी क्यों न हो, परन्तु इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि प्रकृति जो कर सकती है, वह हम नहीं कर सकते। इस लिए हमें इस प्रकार की जिद तथा हठ न करना चाहिए कि "मनुष्य का समस्त उद्धार हम बुद्धिमान ही करेंगे। बल्कि

प्रकृति को अपना कार्य करने के लिए स्वतंत्र छोड़ देना चाहिए। आरम्भ में ही ऐसा करने से अर्थात् बच्चों को प्रकृति के स्वतन्त्र साम्राज्य में आनन्द से इच्छा अनुसार घूमनें-फिरने देने से सभ्यता के साथ किसी की खींचातानी अथवा लड़ाई-झगड़ा नहीं होता और कार्य भी सिद्ध हो जाता है। हमें यह नहीं समझना चाहिए कि इस प्रकृति-शिक्षा से केवल बच्चों को ही लाभ होता है। नहीं ! इससे हमें भी लाभ होता है। हम अपनें ही हाथों से सब कुछ ढांप लेते हैं और धीरे-धीरे अपने स्वभाव को इतना बिगाड़ लेते हैं कि फिर प्राकृतिक वस्तुओं को किसी प्रकार भी साधारण दृष्टि से नहीं देख सकते। यदि हम मनुष्य के सुन्दर शरीर को बाल्यावस्था से ही नंगा देखने का अभ्यास न करेंगे, तो हमारी भी वही दशा होगी जो योरुप वालों की हो गई है। उनके मन में शरीर के सम्बन्ध में एक बहुत बुरा संस्कार जड़ पकड़ गया है। वास्तव में वह संस्कार ही अमानुषी तथा लज्जा-जनक है। बच्चों को नंगा अथवा खुला रखनें में तनिक भी अमानुषता लज्जा की बात नहीं है।

हम यह स्वीकार करने को तैयार हैं कि सभ्य समाज में वस्त्रों तथा जूतों आदि की भी आवश्यकता है और यही कारण है कि यह वस्तुएँ बनी हुई हैं। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि यह वस्तुएँ हमारे लिए हैं, हम इनके लिए नहीं हैं। इन अथवा ऐसी ही अन्य वस्तुओं के इतनें अधीन हो जाना कि इनके बिना निर्वाह न हो सके—और यदि कोई वस्तु एक समय मिल न सकती हो या न मिले तो उसके बिना कष्ट अनुभव हो—तो यह कदापि उचित नहीं है। ऐसे स्वभाव से हमें सर्वथा हानि होने की सम्भावना है। कम-से-कम भारत का जलवायु ऐसा अच्छा है कि हमें इन अप्राकृतिक वस्तुओं का सदैव दास बननें की तनिक भी आवश्यकता नहीं है। पहले भी हम इनके दास

न थे। आवश्कतानुसार कभी इनका प्रयोग कर लेते थे और कभी इन्हें खोलकर एक ओर रख दिया करते थे। वस्त्रादि केवल एक साधन (Means हैं) न कि परिणाम अथवा उद्देश्य। यह कभी-कभी हमारा उद्देश्य पूरा करने में लाभदायक सिद्ध होते हैं। परन्तु इससे अधिक कोई महत्व नहीं रखते अर्थात् आवश्यकता के समय में हमें सर्दी आदि के कष्ट से बचा देते हैं। बस, हमें इनकी इतनी ही आवश्यकता थी। यही कारण था कि हमें अपने शरीर को खुला रहने में लज्जा का अनुभव न होता था। और न दूसरों को नंगा देख कर हम अप्रसन्न हुआ करते थे। ईश्वर की कृपा से इस विषय में हमें योरुप वालों की अपेक्षा अधिक सुगमता प्राप्त थी। हमने आवश्यकतानुसार लज्जा की रक्षा भी की है और अनावश्यक तथा अत्यधिक लज्जा के बोझ से भी स्वयं को सुरक्षित रखा है।

यह बात भूलनी नहीं चाहिए कि अत्यधिक लज्जा उचित लज्जा को दूर कर देती है। अत्यधिक लज्जा ही वास्तव में लज्जाजनक है। इसके अतिरिक्त जब मनुष्य अधिक की बेड़ी तोड़ देता है अर्थात् प्रत्येक बात में सीमा को पार करने लगता है, तब उसे किसी प्रकार का ध्यान नहीं आता। हम यह स्वीकार करने के लिए तैयार हैं कि हमारी स्त्रियाँ अधिक वस्त्र नहीं पहनतीं। परन्तु वह जान-बूझकर अपनी इच्छा से अपनी छाती तथा कमर का तीन चौथाई भाग खुला रखकर भी पुरुषों के सम्मुख नहीं जा सकतीं। वास्तव में हम लज्जा नहीं करते। परन्तु साथ ही हम लज्जा की उचित सीमा के अन्दर अकारण हस्तक्षेप भी नहीं करते।

हमने यहाँ लज्जा के विषय में वाद-विवाद नहीं करना है। इसलिए हम इन बातों को छोड़ते हैं। हमने अब तक जो कुछ कहा है उसका अभिप्राय केवल यह है कि यद्यपि मनुष्य की

सभ्यता को अप्राकृतिक वस्तुओं का आश्रय लेना ही पड़ता है, परन्तु हमें यह बात सदा दृष्टिगोचर रखनी चाहिए कि कहीं स्वभाव के हाथों (अभ्यास दोष से) हम इनके दास न बन बैठें और हमें अपनी घड़ी हुई अथवा बनाई हुई बातों के सामने अपने सिर को सदैव नीचे न रखना पड़े। हमारा धन जब हम को खरीदने लगे, हमारी भाषा ही हमारे विचारों की नाक में नुकेल डालकर उन्हें मनमाना नाच नचाने लगे, हमारी सज-धज और हमारी विलास-सामग्री जब हमारे अंग को कर्महीन अथवा अनावश्यक बना डालने के लिए जोर लगाये और जब 'आवश्यक' को अनावश्यक के सम्मुख अपराधी की भाँति सिर झुकाना पड़े तो हमें सभ्यता के घातक चाबुक के आगे सिर न झुकाकर अवश्य यह कहना पड़ेगा कि 'नहीं'। यह उचित नहीं हो रहा है। भारतवासियों के लिए अपना शरीर खुला रखना तनिक भी लज्जाजनक बात नहीं है। जिन सभ्य मनुष्यों को आँखों में यह बात खटकती है, उनको आंखें ही साफ नहीं हैं। उन्हें कोई रोग लग गया है।

आजकल जिस प्रकार वस्त्रों तथा जूतों आदि का सम्बन्ध हमारे शरीर के साथ सीमा को पार कर गया है, उसी प्रकार पुस्तकों का सम्बन्ध हमारे मन में निरन्तर बढ़ता चला जा रहा है। अब हम लोग इस बात को भूलते जा रहे हैं कि पुस्तकें पढ़ना शिक्षा का केवल सरल भाग अथवा सहायक है। और पुस्तकें पढ़ने को हम विद्या अथवा विद्या प्राप्त करने का सबसे आवश्यक तथा लाभदायक सूत्र समझने लगे हैं। यह संस्कार हमारे मन में इतना जड़ पकड़ चुका है कि अब उसको दूर करना बहुत कठिन कार्य है।

यह सत्य है कि आजकल विद्या के सम्बन्ध में जो उल्टी गंगा वह रही है, उसके परिणामस्वरूप हमें बाल्यावस्था से

ही पुस्तकें रटनी पड़ती हैं। परन्तु वास्तव में पुस्तकों द्वारा ज्ञान प्राप्त करना हमारे मन का प्राकृतिक धर्म नहीं है। वस्तु को सामने देख-सुनकर, उसे हिला-घुमाकर, अपनी आँखों से देखभाल तथा जाँच करके ही आविष्कृत ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। दूसरों के आविष्कृत अथवा प्रमाणित ज्ञान को भी यदि हम उन लोगों के मुख से सुनते हैं, न कि पुस्तकों में पढ़ते हैं तो हमारा मन उन बातों को सरलता से ग्रहण कर लेता है। क्योंकि मुख की बात केवल 'बात' ही नहीं, बल्कि 'मुख की बात' है। उसके साथ प्राण है, मुख तथा आँखों का हिलना-जुलना, गले की ऊँची-नीची आवाज है और हाथों के संकेत हैं। इन सबके द्वारा हम जो कुछ कानों से सुनते हैं, वह बात एक संगीत तथा एक विशेष आकार में परिणत होकर अपने सामने आती है और आँखों तथा कानों के लिए प्राप्य तथा माननीय हो जाती है। केवल यह नहीं। यदि हमें विदित हो जाय कि कोई व्यक्ति अपने मन की वस्तु हमें प्रसन्न तथा स्वच्छ मन से प्रदान कर रहा है, यह केवल एक पुस्तक ही नहीं पढ़ता जा रहा है, तो मन के साथ मन का सम्बन्ध हो जाता है। और इसका परिणाम यह निकलता है कि ज्ञान में एक प्रकार का रस अथवा एक प्रकार की नवीनता पैदा हो जाती है।

हम जो पुस्तकें पढ़ते हैं, हमारे शिक्षक हमें उन पुस्तकों के अध्ययन में थोड़ी-बहुत सहायता देते हैं और हमारे मन को इस प्रकार के अध्ययन में अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता। इसका परिणाम यह है कि जिस प्रकार हमारा शरीर अप्राकृतिक सामग्री तथा वस्तुओं की ओट में प्रकृति के मिलाप से वंचित हो गया है और इस बात का इतना अभ्यास हो गया है कि अब उसे मिलाप तथा प्रकृति का स्वतन्त्र सम्बन्ध कष्टदायक तथा लज्जा-जनक अनुभव होता है, उसी प्रकार हमारा मन भी संसार के

साथ स्वतन्त्र रूप से मिलने या आनन्द भोगने की शक्ति को नष्ट कर बैठा है। अर्थात् हमें सब वस्तुओं के सम्बन्ध में पुस्तकों द्वारा जानकारी प्राप्त करने का स्वभाव पड़ गया है। जो वस्तु हमारे अति समीप है, यदि उसके विषय में भी हम कुछ जानना चाहें तो पुस्तकों की ओर ताकते हैं। पुस्तकों का आश्रय ढूंढ़ते हैं। किसी नवाब के विषय में प्रसिद्ध है कि वह एक बार जूता पहना देने के लिए अपने सेवक का मार्ग देखते रहे और इतने समय में शत्रु ने आकर उन्हें बन्दी बना लिया। पुस्तकीय ज्ञान के फेर में पड़ जाने से हमारे मस्तिष्क की नवाबी भी इसी प्रकार अत्यधिक बढ़ गई है। चाहे कितना हो छोटा तथा अनावश्यक विषय क्यों न हो, यदि हमें उसके सम्बन्ध में कोई पुस्तक प्राप्त नहीं होती, तो हमारे मन को आश्रय नहीं मिलता। और सबसे अधिक विस्मय को बात यह है कि इन बिगड़े हुए संस्कारों के दोष में हममें जो यह नवाबी-सी आ गई है, हम उसे लज्जा की बात नहीं समझते—बल्कि उस पर अभिमान करते हैं। पुस्तकीय ज्ञान तथा जानकारी पर बड़ा मान करते हैं। और उन्हीं बातों की कृपा से हम अपने आपको उच्च कोटि के विद्वानों तथा बुद्धिमानों के मुखिया समझ कर अभिमान करते हैं। इसका अर्थ यह है कि हम संसार को, इस विश्व के आकार को, पुस्तकों द्वारा ढूंढ़ते हैं न कि अपने मन द्वारा।

हम यह स्वीकार करने के लिए तैयार हैं कि मनुष्य के ज्ञान, उसकी जानकारी तथा उसके विचारों को वर्तमान तथा भविष्य में आने वाली नस्लों के लिए एकत्र कर रखने के लिए पुस्तक जैसी कोई वस्तु नहीं है। ऐसी सुगमता और किसी वस्तु में नहीं है। पुस्तकों द्वारा ही आज हम मनुष्य के सहस्रों वर्ष पुराने ज्ञान और विचारों को सरलता से जान सकते हैं। परन्तु यदि हम सरलता अथवा सुगमता के लिए अपने मन की प्राकृतिक शक्ति

को बिलकुल दबाकर बन्द कर दें, तो इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि हमारी बुद्धि 'बाबू' बन जायेगी। हमारे पाठक 'बाबू' से अवश्य परिचित होंगे। जो व्यक्ति नौकर-चाकर, धन-धान्य आदि वस्तुओं पर अवलम्बित रहता है, इनके बिना हिल तक नहीं सकता, उसे 'बाबू' कहते हैं। बाबू लोग यह नहीं समझते कि अपनी शक्ति अथवा अपने प्रयास से कार्य करने पर हमें जो दु:ख या कष्ट सहन करना पड़ता है, उससे हमें वास्तविक आनन्द तथा सुख प्राप्त होता है। और उसी को कृपा से हम जो कुछ प्राप्त करते हैं वह मूल्यवान हो जाता है। पुस्तकीय बाबू-पन में भी वह आनन्द प्राप्त नहीं होता जो ज्ञान को, स्वयं अपने हाथ हिलाकर प्राप्त करने या कठोर परिश्रम द्वारा सत्य की खोज करने में मिलता है। हर समय तथा हर बात के लिए पुस्तकों का आश्रय ढूँढ़ने तथा उन पर अवलम्बन रखने से मन की स्वतन्त्र प्राकृतिक शक्ति नष्ट हो जाती है। और उस शक्ति को काम में लाने से जो आनन्द मिला करता है वह भी नष्ट हो जाता है। बल्कि यदि कभी उसको काम में लाने का अवसर आ पड़े तो अकारण कष्ट का अनुभव होता है।

इस प्रकार हमारा मन बाल्यकाल से ही पुस्तकीय शिक्षा के खोल से ढक जाता है, तब हमारी लोगों से सहज स्वभाव से मिलने-जुलने की शक्ति जाती रहती है। जो दशा हमारे वस्त्रों से ढके हुए शरीर की हुई, (उसे नंगा अथवा खुला रखने से लज्जा आती है) वही दशा हमारे पुस्तकों से घिरे हुए मन की हो गई। वह भी बाहर नहीं निकलना चाहता। यह बातें प्रति-दिन देखने में आती हैं कि आजकल के शिक्षित लोगों के साधा-रण लोगों का सहज भाव से आदर-सत्कार करना, उसके साथ भाई-बन्धुओं की भाँति मिल-जुलकर वार्तालाप करना दिन-प्रति दिन कठिन होता चला जा रहा है। वे पुस्तकीय संसार के लोगों

से भली प्रकार परिचित हैं। परन्तु वास्तविक संसार वालों को नहीं पहचानते। उन्हें 'पुस्तकीय मनुष्यों' के साथ मिलने में आनन्द आता है, परन्तु इस संसार के लोगों के साथ मिलने-जुलने में आलस्य तथा कष्ट अनुभव होता है। बड़ी-बड़ी सभाओं में व्याख्यान दे सकते हैं, परन्तु साधारण जनता के साथ वार्तालाप नहीं कर सकते। बड़ी-बड़ी पुस्तकों पर टिप्पणी कर सकते हैं परन्तु उनके मुख से उचित समय पर बात अथवा कुछ साधारण शब्द भी नहीं निकलना चाहते। इन बातों को ध्यान में रखकर हमें यह कहना पड़ता है कि ये लोग विद्वान् तो अवश्य हो गये हैं, परन्तु सच्ची मानवता का गुण गंवा बैठे हैं। यदि हम लोगों के साथ मिलते रहें, तो घर-गृहस्थ का वार्तालाप, सुख-दुःख का अनुभव, बाल-बच्चों की देख-भाल आदि हमारे दैनिक जीवन की सैकड़ों बातें अत्यन्त साधारण, प्राकृतिक तथा शक्ति-प्रद जान पड़ें। परन्तु हमारी दशा इससे सर्वथा विपरीत है। हमें यह सब बातें कठिन तथा कष्टदायक जान पड़ती हैं। 'पुस्तकों के मनुष्य' घड़ी-घड़ाई बातें बोल सकते हैं। उनके मुख से तुले हुए शब्द मिलते हैं। और इसलिये वे जिन बातों से हंसते हैं, वे वास्तव में ऐसी होती हैं कि उनसे अकारण ही हँसी आ जाए। परन्तु वास्तव में मनुष्य हैं, रक्त-मांस तथा हड्डियों से बने हुए जीवित मनुष्य हैं—न कि सांचे में ढले हुए पुस्तकीय संसार के मनुष्य—उनकी बातें, उनका हँसना, उनका रोना सदा प्रथम श्रेणी में नहीं होता। और यह बात ठीक भी है। वास्तव में उनका—जो कुछ वे स्वाभाविक रूप में हैं—उनकी अपेक्षा अधिक न बनने का प्रयास न करना ही ठीक है। यदि मनुष्य 'पुस्तक' बनाने की चेष्टा करेगा तो इससे मनुष्य का आनन्द जाता रहेगा। उसमें मानवता शेष न रहेगी।

नीति-शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् चाणक्य पंडित ने कहा है

कि जो लोग विद्या से वंचित हैं वे 'सभा में शोभा' नहीं देंगे। अर्थात् सभा-सोसायटियों में उनका सम्मान नहीं होगा। परन्तु जलसा अथवा सभा तो सदा नहीं रहती। समय समाप्त हो जाने पर सभा के प्रधान महोदय का धन्यवाद करके सभा विसर्जित कर दी जाती है। कठिनाई तो यह है कि हमारे देश की नवीन सभ्यता के शिक्षित लोग सभा के बाहर शोभा नहीं देते। वे पुस्तकीय संसार के मनुष्यों के साथी एवं मित्र हैं। इसलिए सच्चे मानवों में उनका कोई सम्मान नहीं होता। वास्तविक संसार में वे अच्छे नहीं लगते।

ऐसी दशा का स्वाभाविक परिणाम अरुचिकर होता है अर्थात् जब स्वतन्त्र प्राकृतिक मनुष्य पुस्तकों का मनुष्य बन जाता है तो उसके प्राकृतिक आनन्द का द्वार बन्द हो जाता है।

आजकल योरुप के साहित्य तथा समाज में एक विचित्र प्रकार का रोग फैला हुआ है। योरुप वाले इस रोग को (World Weariness) कहते हैं। इससे नस-नस ढीली हो गई है तथा जीवन का आनन्द ज़ाता रहा है। परन्तु लोग आनन्द रहित जीवन व्यतीत नहीं कर सकते, इसलिए भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं को बना-बना कर अपने आप को भुलाने तथा फुसलाने की चेष्टा में अत्यन्त लीन हैं। कुछ समझ में नहीं आता कि यह परेशानी क्यों है? आखिर इसका कारण क्या है? पुरुष तथा स्त्रियाँ सब-के-सब इस परेशानी के रोगी हैं।

प्रकृति से धीरे-धीरे बहुत दूर चले जाना, अप्राकृतिक तथा स्वभाव के विरुद्ध अभिलाषाएँ रखना ही इसका कारण है। अप्राकृतिक साधन इस प्रकार बढ़ाए जा रहे हैं, उनका वेग अब इतना बढ़ गया है कि उन्होंने प्राकृतिक मनुष्यों को एक विचित्र प्रकार का जीव बना दिया है। इन मनुष्यों का मन पुस्तकों से घिर गया है और शरीर वस्त्रों तथा ऐसी ही अन्य वस्तुओं से

घिरा हुआ है। इस प्रकार जीवात्मा के सारे द्वार तथा खिडकियाँ बन्द कर दी गई हैं। स्वच्छ वायु तथा खुले प्रकाश के आने के लिए उसमें कोई मार्ग नहीं। जो वस्तुएँ नित्य हैं (सदा बनी रहने वाली हैं) और अमूल्य होने के कारण अत्यन्त मूल्यवान हैं, उन प्राकृतिक वस्तुओं के साथ न तो मिलना-जुलना रहा और न खुली जान-पहचान रही। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्हें प्राप्त करने की शक्ति अथवा स्वीकार करने की योग्यता जाती रही। उनके स्थान पर जो वस्तुएँ भिन्न प्रकार के प्रयोग से उत्पन्न होकर कुछ दिन तक फैशन के भंवर में पड़कर गन्दी हो जाती हैं और इसके पश्चात् शीघ्र ही अनादर तथा घृणा की दृष्टि से देखी जाने लगती हैं तथा एकत्र होकर अपनी पूरी शक्ति तथा पूरे वेग से समाज की वायु को गन्दा कर देती हैं, वे घूम-घूम कर लाख गुना परिश्रम कराती हैं तथा उसमें समस्त समाज को जोत कर उसे कोल्हू के बैल की भाँति घुमा-घुमा कर मारती रहती हैं। परेशानी का कारण यही बातें हैं।

एक पुस्तक से कई सहस्र पुस्तकें उत्पन्न हो रही हैं। एक संस्करण से कई संस्करण तैयार हो जाते हैं। एक का धर्म सहस्रों भाषाओं का आश्रय लेकर असंख्य मनुष्यों का धर्म बनता जा रहा है। अर्थात् नकल से नकल का क्रम चल रहा है। इस प्रकार मनुष्य के चारों ओर पुस्तकों तथा वाक्यों का जंगल दिन-प्रति-दिन घना होता चला जा रहा है। अर्थात् आजकल के लोगों के मन में जितने विचार पैदा होते हैं, उनमें से अधिकतर केवल पुस्तकों की सहायता से पैदा होते हैं, पुस्तकें ही उनकी उत्पत्ति का द्वार हैं। यही कारण है कि उनमें वास्तविकता नहीं होती। न उनमें गहराई होती है। वे मनुष्य के सिर पर भूत की भांति सवार हो जाते हैं और उनके मस्तिष्क तथा स्वास्थ्य को बिगाड़ देते हैं। वे उन्हें झूठ बोलने तथा बढ़ा-चढ़ा

कर बातें करने की ओर ले जाते हैं और धीरे-धीरे सब को एक ही लकीर पर चलाकर सत्य को झूठ बना देते हैं। उदाहरणार्थ देश-भक्ति को ही लीजिए। इसके भीतर जितना सत्य था उसे लोगों ने स्थायी रूप से रहने न दिया, जिसके मन में आया, उसी ने नये रूप से उछल-कूद मचाकर उसका कचूमर निकाल दिया। और अन्त में एक मोटा-ताजा झूठ बनाकर संसार के सामने खड़ा कर दिया। अब इस बनाकर तैयार की हुई बात को सत्य बनाने के लिए न जाने कितने अप्राकृतिक ढंग अपनाये जाते हैं। कितनी युक्तियों का प्रयोग किया जाता है। न जाने कितने अनुचित दण्ड दिये जाते हैं। और न जाने कितनी दलीलें तथा धर्म के स्वांग रचे जाते हैं। इन सब अप्राकृतिक बातों के गहरे अन्धकार में मनुष्य को मार्ग तक नहीं सूझता। वह उचित तथा उत्तम मार्ग से निरन्तर दूर हटता चला जाता है। परन्तु क्या किया जाए? बनावटी तथा प्रकृति के विरुद्ध वस्तुओं का मोह छोड़ना कोई सरल काम नहीं है। यदि कोई वज्र अथवा बढ़ने वाली वस्तु हो, तो हम उसे पृथ्वी पर पटक कर अथवा फेंककर या हाथ-पांव से मसलकर संसार से दूर कर सकते हैं। परन्तु 'बात' अथवा 'वाक्य' के शरीर पर छुरी भी नहीं चल सकती। इसलिए इस संसार में 'बात' के लिए जितना रक्त-पात हुआ है, उतना साम्राज्य आदि के लिए भी नहीं हुआ।

समाज की प्रारम्भिक स्थिति में (जब मनुष्य धोखा आदि बातों से अनभिज्ञ था) देखा जाता है कि मनुष्य जो कुछ जानता है, उसे मानता भी है। उस पर उसका अटल विश्वास तथा असीमित श्रद्धा होती है। और यही कारण है कि वह उसके लिए बिना किसी विशेष प्रयास के अपने व्यक्तिगत लाभ का बलिदान कर सकता है तथा उसके लिए कष्ट सहन करना स्वीकार कर सकता है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि

समाज को उस दिशा में भी मनुष्य का मस्तिष्क तथा मन दोनों खुले रहते हैं। उन पर नाना प्रकार की धारणाओं तथा सिद्धान्तों का पर्दा नहीं पड़ता। इसलिए उसके मन में जितनी मात्रा में सत्य को प्राप्त करने अथवा स्वीकार करने की शक्ति या योग्यता होती है, वह उतनी ही मात्रा में स्वीकार कर लेता है। और मन ने जिस बात को सच्चाई के रूप में ग्रहण कर लिया, उसके लिए मन अकारण ही हर प्रकार के कष्ट सहन कर सकता है। यह उसके लिए साधारण बात है।

परन्तु जब सभ्यता की असाधारण दशा की ओर दृष्टि दौड़ाई जाए तो विदित होता है कि इस दशा में मनुष्य का मन स्पष्ट नहीं होता। उस पर भाँति-भाँति की धारणाओं की सैकड़ों तहें तथा असंख्य खोल चढ़ जाते हैं। कोई गिरजाघर का मत है, परन्तु चर्चा का मत नहीं। कोई सभा का मत है, परन्तु घर का मत नहीं है। कोई पंचायत अथवा समूह का मत है परन्तु एकान्त का मत नहीं है। कोई मत ऐसा है कि उसमें नेत्रों में से टप-टप आँसू गिरने लगते हैं, परन्तु जेब में से पैसा तक नहीं निकलता। कोई मत ऐसा है कि उससे जेब में से पैसा भी निकल आता है और कार्य भी आरम्भ हो जाता है परन्तु उसे मन में स्थान प्राप्त नहीं होता। ऐसे मत की स्थापना 'फैशन' की नींव पर होती है। जब मतों की भाँति-भाँति की तहें बीच में खड़ी हो जाती हैं, मनुष्य का मन सच्ची बात को अटल सत्य के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता। यही कारण है कि उसका चलन हर स्थान पर, हर समय और हर प्रकार से सत्य के अनुकूल नहीं होता। जब उसे सुगमता से अपनी शक्ति तथा प्रकृति के अनुसार अपने लिए कोई मार्ग निश्चित करने का अवकाश नहीं मिलता, तो वह भँवर में पड़ जाता है और बार-म्बार दूसरों की अनुमति अथवा मत का अनुसरण तथा नकल

करना आरम्भ कर देता है। परन्तु अन्त में जब कार्य करने का समय आता है तो उसका प्रकृति के साथ विरोध पैदा हो जाता है अर्थात् वह कहता तथा मानता कुछ है और करता कुछ और है। यदि उसके मन पर भाँति-भाँति के पर्दे न पड़े होते, यदि वह अपने स्वभाव को स्वयं ही बनाता तथा स्थापित करता—न कि पुस्तकों तथा अन्य व्यक्तियों की अनुमति तथा वाक्यों की सहायता से—तो उसस्वभाव में से जो कुछ उसे मिलता, वह छोटी अथवा बड़ी चाहे कैसी भी वस्तु क्यों न होती, परन्तु होती शुद्ध वस्तु। यह वस्तु उसे पूरी शक्ति प्रदान करती। पूर्ण सहायता तथा आश्रय देती और उसे हर प्रकार से जी-जान से कार्य में व्यस्त किए बिना न रह सकती। परन्तु इस समय वह बड़े असमंजस में पड़ जाता है। पुस्तकों की अनुमति, दूसरे व्यक्तियों का मन्तव्य, सभाओं का मत, पंचायतों का मत ! इस प्रकार जाने कितने मतों का बोझ सिर पर लादकर अपने उद्देश्य को दृष्टि से ओझल कर बैठता है। और सत्य के मार्ग से परे चला जाता है। केवल बड़े-बड़े सुन्दर वाक्यों को रटता हुआ इधर-उधर भटकता फिरता है। और आश्चर्य यह है कि इस पाठ को तथा इस प्रकार मारे-मारे फिरने को वह लाभ-दायक कार्य समझता है। इसके लिए वह वेतन प्राप्त करता है। इन वाक्यों को बेचकर पैसा कमाता है। उसके कहे हुए वाक्यों में से किसी ने तनिक भी इधर-उधर कहा कि उसका स्वभाव बिगड़ जाता है। और वह शीघ्र ही दूसरी जाति को हीन और अपने गुट को मान्य प्रमाणित करने की चेष्टा में लग जाता है। समाज की असाधारण स्थिति में मनुष्य के मन तथा मस्तिष्क की ठीक यही दशा हो जाया करती है।

मनुष्य के मन के चारों ओर एक घना वन दूर तक फैलता चला गया है। उसकी मोहक सुगन्ध ने हमें आसक्त बना दिया

है। यह महक हमें एक टहनी से दूसरी और दूसरी से तीसरी पर भटका-भटका कर मारती फिरती है। परन्तु इससे हमें वास्तविक आनन्द तथा सच्ची शान्ति प्राप्त नहीं होती। इससे जो अन्य नाना प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं, उनका वर्णन एक ओर रहा।

जो वस्तु प्राकृतिक एवं सहज होती है, उसमें यह विशेषता होती है कि उसका आनन्द नित्य नया बना रहता है, न कभी पुराना होता है और न कभी बिगड़ता है। उसकी नवीनता सदा बनी रहती है। वास्तविक स्वभाव की बात को मनुष्य ने आज तक जितनी बार कहा है, उतनी ही बार वह नई जान पड़ी है। संसार में इस प्रकार की प्राकृतिक बातों की शिक्षा देने वाली दो-तीन पुस्तकें हैं, जिनका आनन्द सहस्रों वर्ष बीत जाने पर भी उसी प्रकार बना पड़ा है। उसमें रत्ती भर भी अन्तर नहीं पड़ा। न वह फीका हुआ और न पुराना। स्वच्छ तथा निर्मल जल की भाँति उससे हमारी तृष्णा बुझ जाती है। शराब की भाँति नशे के शिखर पर चढ़ाकर रूखे-सूखे कष्ट के स्थान पर पटक देने का 'गुण' उनमें नहीं है। यह केवल प्राकृतिक बातों का वर्णन है। परन्तु ज्योंही प्रकृति से इधर-उधर हुए, शीघ्र ही मस्ती (मादकता) तथा कष्ट के बीच में धान कूटने वाली ओखली बन जाना पड़ता है। विलास-सामग्री से सजी हुई सीमा से बढ़ी हुई सभ्यता में यही बड़ा भारी दोष है।

इस वन में मार्ग ढूँढ़कर इस ढेर सारी पुस्तकों के पर्दे को हटाकर यदि समाज में तथा मनुष्य के मन में प्रकृति की वायु तथा प्रकाश पहुँचाना हो तो यह यूँही नहीं पहुँच सकते। इसके लिए या तो किसी महापुरुष को संसार में जन्म लेना पड़ेगा या एक बड़े परिवर्तन की आवश्यकता होगी। अत्यन्त साधारण सत्य अथवा एक अत्यन्त साधारण बात को ग्रहण करने के लिए

भी शायद रक्त-सागर पार करके आना होगा। जो वस्तु आकाश की भाँति हर स्थान पर विद्यमान है और जो वस्तु वायु की भाँति मुफ्त मिल सकती है, उसे खरीदने के लिए भी शायद अमूल्य जीवन गँवाना पड़ेगा।

योरुप के मानसिक साम्राज्य में भूचाल तथा अग्नि-स्फोट का जो कष्ट प्राय: दिखाई देता है, उसका कारण यही है कि वहाँ स्वभाव के साथ जीवन का मेल तथा बाहरी प्रकृति के साथ भीतरी प्रकृति की समानता तथा संगठन नहीं रहा। अर्थात् वहाँ ज्ञान एक ओर को जा रहा है और चरित्र दूसरी ओर को।

योरुप के इस दोष ने अब हमारे यहाँ भी दर्शन दिये हैं। परन्तु हमें यह केवल अनुकरण अथवा छूत द्वारा प्राप्त हुआ है। यह हमारे देश की शुद्ध उपज नहीं है। हमने जिस दिन से बचपन से ही विलायती पुस्तकों को रटना आरम्भ किया है, उसी दिन से हमारे यहां इसका श्रीगणेश हो गया है। जिन सब विलायती बातों को हम प्रारम्भ से बेखटके बड़ी श्रद्धा के साथ स्वीकार तथा प्रयोग करते चले आ रहे हैं, हमें उचित था कि उस समय उनमें से किसी पर भी विश्वास न करते—जब तक कि उन्हें सत्य की कसौटी पर घिस कर खरे-खोटे की जाँच न कर लेते। क्योंकि उनका तीन-चौथाई भाग तो केवल पुस्तकों की उपज है। एक से दूसरी और दूसरी से तीसरी पुस्तक ने उसे सत्य बनाया है। पहले उसे दस व्यक्ति एक दूसरे का अनुकरण करके सत्य कहते चले आते थे। धीरे-धीरे और भी कुछ व्यक्तियों ने उसे सत्य मान लिया और अन्त में वह बात एक पुस्तक में लिख दी गई। परन्तु इस प्रकार की जाँच हमें पसन्द नहीं। इसका कभी विचार तक भी नहीं आता। बल्कि अब तो हम उन पुस्तकों के सत्य को कण्ठस्थ करके इस प्रकार प्रयोग करने लगे हैं कि जैसे हम ही उसके बनाने वाले हैं। जैसे हमने

ही उसको ढूंढ़ निकला था। संभवत:, इससे हम यह प्रमाणित करना चाहते हैं कि वह विलायत के अध्यापकों के मुख से निकले हुए शब्दों की 'गूंज' ही नहीं है।

जो लोग नया पाठ स्मरण करते हैं, उनका साहस प्राकृतिक रूप से ही कुछ अधिक हुआ करता है। सीखा हुआ तोता जितनी ऊँची आवाज से बोलता है, उसके सिखाने वाले का स्वर इतना ऊँचा नहीं हुआ करता। कहते हैं कि जो जातियाँ पहले-पहल पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव में आती हैं ! वह इस विलायती मादकता से इतनी मस्त हो जाती हैं कि उनके लिए पृथ्वी छोड़ना कठिन हो जाता है। परन्तु जिन जातियों की नकल अथवा अनुकरण करके यह अन्य जातियाँ इस मद्य का प्रयोग करती हैं, वह स्वयं इतनी अचेत दिखाई नहीं देतीं। इसी प्रकार यह भी देखा जाता है कि जो बातें अपने बनाने वालों को आसक्त नहीं कर सकतीं, वह अन्य लोगों को आश्चर्य तथा असमंजस में डाल देती हैं। उनका मोह उन्हें एकाएक पृथ्वी पर सुला देता है।कुछ ही समय पूर्व विलायत में एक सभा हुई थी। उसमें क्रमशः कई भारतवासियों ने उठकर कहा कि 'भारत में में स्त्री-शिक्षा का बड़ा अभाव है। 'इस अभाव को पूरा करने के लिए क्या करना चाहिए'। इसके विषय में उन्होंने लम्बी-चौड़ी तथा बहुत पुरानी विलायती बातों का तोते की भाँति पाठ सुना दिया। अन्त में एक अंग्रेज ने कहा, "मुझे इस विषय के सम्बन्ध में सन्देह है कि भारतीयों स्त्रियों को अंग्रेजी ढंग के अनुसार पढ़ाना ही वास्तविक शिक्षा है और यही शिक्षा उनके लिए अत्यन्त लाभदायक है।" हम यहाँ पर इस बात के बारे में कोई मत देना नहीं चाहते कि कौन-सी बात सत्य है और कौन-सी असत्य, परन्तु केवल यह बतला देना चाहते हैं कि हम लोग जो विलायत के रीति-रिवाज तथा विचारों को गन्धमादन पर्वत

की भाँति शिखर से जड़ तक उखाड़ कर लाने के लिए तैयार हो जाते हैं। और इस बात का हमें तनिक भी ध्यान नहीं आता कि हमारा यह कार्य कहाँ तक उचित है। उसका कारण केवल यही है कि उन सब बातों को हमने बचपन से ही पुस्तकों द्वारा सीखा है। और हमें जो बुरी-भली शिक्षा मिली है, वह सब पुस्तकीय शिक्षा है। वह अपनी कमाई की वस्तु नहीं, बल्कि माँग कर ली हुई है।

हमारे देश में भी शिक्षित लोग पुस्तकों के छिद्रों में घुस गए हैं। इसलिए अब उनको भी जीवन का आनन्द नहीं मिलता। इस परेशानी तथा घबराहट के चिन्ह उनके मुख पर स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। इन छिद्रों के रहने वालों में न तो साहस है और न आपसी मेल-जोल का चिह्न है और न उसमें प्राकृतिक हँसी खेल की ही बातें है। इसके दो कारण बतलाए जाते हैं। प्रथम तो यह कि जीवन के लिए छटपटाना बहुत बढ़ गया है। निर्वाह के लिए बहुत अधिक प्रयास करना पड़ता है। और दूसरा यह कि हमारे समाज से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखने वाली (अर्थात् जिसके साथ हमारा कोई सामाजिक संबंध नहीं) सरकार का चाबुक शिक्षित लोगों की पीठ पर सदा ही पड़ता रहता है। इसलिए उनको इतनी उदासी घेरे रखती है। इसमें संदेह नहीं कि शिक्षित लोगों के जीवन को आनन्दरहित बनाने वाले यह कारण भी हैं। परन्तु इनके साथ ही बनावटी तथा सर्वथा अप्राकृतिक शिक्षा-प्रणाली भी है, यह सबसे बड़ा कारण है। बचपन से ही पढ़ने-लिखने की चक्की पीसना आरम्भ कर दिया जाता है। इस शिक्षा-प्राप्ति के साथ मन का मिलाप अथवा संबंध बहुत ही कम होता है। और यदि सच पूछा जाए तो यह शिक्षा आनन्द के लिए प्राप्त ही नहीं की जाती। इसके प्राप्त करने का वास्तविक अभिप्राय तो पेट भरने तथा अन्य

आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए रुपया और इसके नीचे उतर कर दूसरा उद्देश्य यह होता है कि सम्मान तथा नाम पैदा किया जाए। सो ऐसी स्थिति में इन विद्वानों में साहस तथा प्राकृतिक शांति और प्रसन्नता की बातें किस प्रकार और कहाँ से आ सकती हैं ?

जिस विद्या को हम खूब मन लगाकर भली प्रकार से ग्रहण करते हैं, वह हमारे रक्त में मिल जाया करती है। हमारी नसों में फैल जाती है और जिस विद्या को पुस्तकें रट कर ग्रहण करते हैं वह बाहर से भारी होकर हमें सबसे पृथक कर देती है, इस बाहरी शिक्षा को हम किसी प्रकार से भूल नहीं सकते। यही कारण है कि इससे हमारा अहंकार बढ़ जाता है। और इस अहंकार में जो थोड़ा-सा सुख है, उसी पर हमें भरोसा होता है। हमें पुस्तकों की विद्या से यदि कुछ आनन्द प्राप्त होता है तो वह यही है। यदि हमें विद्या अथवा ज्ञान का वास्तविक आनन्द प्राप्त हो जाता, तो अधिक नहीं तो हमारे लाखों शिक्षित लोगों मे से कम-से-कम दस-बीस व्यक्ति तो अवश्य ऐसे निकल आते जो ज्ञान-चर्चा के लिए अपने जीवन के अन्य सब उद्देश्यों का बलिदान कर देते। हम देखते हैं कि एक ओर तो लोग विज्ञान की उच्च कोटि की परीक्षाओं में अच्छे नम्बर प्राप्त करके उत्तीर्ण होते हैं और दूसरी ओर डिप्टी मजिस्ट्रेट बनकर अपनी समस्त शिक्षा को न्याय तथा न्यायलय की गहरी अर्थहीन नदी में सदा के लिए तिलांजलि देने के लिए तैयार हो जाते हैं। बहुत से युवक बड़ी-बड़ी डिग्रियाँ केवल कन्याओं के अभागे संरक्षकों को कर्ज की गहरी दलदल में फंसाकर मारने के लिए प्राप्त करते हैं। अर्थात् वह अपने जीवन में इससे अधिक स्थायी अन्य कोई सम्मान प्राप्त नहीं कर सकते। हमारे देश में इस प्रकार के शिक्षित कहलाने वाले वकील, बैरिस्टर, न्यायाधीश, क्लर्क आदि

तो असंख्य हैं, परन्तु ज्ञानी एवं तपस्वी कहाँ हैं ? उनकी कभी शक्ल भी दिखाई नहीं देती।

बातों ही बातों में बात बहुत बढ़ गई। शिक्षा के विषय में जो हमारा मत है, उसका साराँश यह है कि बच्चों के मन में इस प्रकार का अन्य संस्कार कदापि नहीं जमने देना चाहिए कि पुस्तकें पढ़ना ही सीखना कहलाता है। यह बात उन्हें पग-पग पर जतलाने की आवश्यकता है कि पुस्तकों में जो विद्या का एकत्र कोष विद्यमान है, वह प्रकृति के कभी समाप्त न होने वाले कोष में से ही लिया गया है अर्थात् मनुष्य को प्रकृति के साथ मिलने से जो कुछ प्राप्त होता है वही पुस्तकों में लिख दिया जाता है। आजकल पुस्तकें पढ़ने का रोग बहुत बढ़ता जा रहा है इसलिए बच्चों को इसके दोष भली प्रकार समझा देने चाहिए। प्राचीन काल में यद्यपि लिखने का रिवाज हो गया था परन्तु गुरुकुलों तथा तपोवनों में पुस्तकों का प्रयोग नहीं किया जाता था। उस समय गुरु (शिक्षक) मौखिक शिक्षा दिया करते थे। और शिष्य (विद्यार्थी) उस शिक्षा को कापी (नोटबुक अथवा पाकेट बुक) में नहीं लिखते थे। बल्कि मन की पुस्तक में लिख लिया करते थे। इस प्रकार एक दीप से दूसरे तथा दूसरे से तीसरे दीप के जलने का सदा बढ़ने वाला क्रम चलता रहता था। इस समय यद्यपि वह संभव नहीं है कि पूर्णतः वही प्राचीन स्थिति वापिस लाई जा सके, परन्तु फिर भी यह आवश्यक है कि जहाँ तक हो सके विद्यार्थियों को दूसरों की कृतियाँ तथा लेख अध्ययन के लिए न दिया जाय। गुरु से जो कुछ सीखें, उसी को स्वयं बनाएँ। अर्थात् जिन बातों को उन्होंने भली प्रकार समझ लिया हो और मस्तिष्क में बिठा लिया हो उसे वह अपनी भाषा में लिखें। केवल ऐसी पुस्तक उन्हें पढ़ने को देनी चाहिए। यदि इस ढंग का प्रयोग किया जाए, तो यह बात कभी उनके स्वप्न अथवा

विचार में भी न आएगी कि पुस्तकें ईश्वर के मुख से निकले हुए वेदों के वचन हैं। वह समझ लेगा कि जिस प्रकार हमनें अपने विचारों को प्रकट किया है, उसी प्रकार बीते हुए युग के विद्वानों नें अपने विचारों को प्रकट करनें के लिए पुस्तकें लिखी थीं। उनको पता लग जाए कि ग्रन्थ ईश्वर के बनाए हुए नहीं हैं। "भारत के वास्तविक वासी आर्य लोग नहीं थे। यह लोग यहाँ मध्य एशिया से आए है।" "वेद ईसा से दो हजार वर्ष पहले लिखे हुए थे।" यह सब बातें हमनें पुस्तकों से ही सीखी हैं। बचपन में पुस्तकें हम पर एक प्रकार का मोहनी मंत्र का-सा प्रभाव डाल देती हैं। और यही कारण है कि ऊपर लिखो तथा अन्य ऐसी ही और बातें हमारे विचार में बिल्कुल विश्वसनीय हो जाती हैं। बच्चों को पहले से यह समझा देना चाहिए कि यह सब अनुमान हैं और कुछ युक्तियों पर यह सब निर्भर है। यदि संभव हो तो उन युक्तियों की जड़ में जो बातें हों, उन्हें विद्यार्थियों के सम्मुख रख देना चाहिए। ताकि बच्चों की अनुमान लगानें तथा परिणाम निकालने की शक्ति को साहस मिले अर्थात् उन्हें इस योग्य बना देना चाहिए कि वह स्वयं भी नए-नए परिणाम निकाल सकें और अनुमान लगा सकें। यदि वह बचपन से ही धीरे-धीरे इस बात को अनुभव करनें लग जायेंगे कि पुस्तकें किस प्रकार और कैसे-कैसे अनुमानों तथा प्रमाणों से तैयार की जाती हैं, तो उन्हे निश्चय ही पुस्तकों का वास्तविक लाभ प्राप्त हो जाएगा। और वह पुस्तकों के धन्धे प्रशासन के प्रभावमें भी न आयेंगे, स्वयं को उससे स्वतन्त्र रख सकेंगे। इसके अतिरिक्त एक और लाभ भी होगा। अपने व्यक्तिगत प्रयास से—जो उनकी विद्या ग्रहण करनें की प्राकृतिक मस्तिष्क की शक्ति है—उसे वह शिक्षा जो हमारे सिर पर लदे हुए बोझ की भाँति है, बिगाड़ अथवा नष्ट न कर सकेगी। पुस्तकों पर उनके

मन को पूर्ण योग्यता प्राप्त होगी। बाल-बच्चे जो कुछ थोड़ा बहुत सीख सकते हैं, यदि सीखते समय उसका प्रयोग करना भी सीख लें, तो शिक्षा उनके लिए बोझ न रह जाएगी, वह स्वयँ शिक्षा को वश में कर लेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि लोग हमारी इस बात का अनुमोदन करने में तनिक भी असमंजस प्रकट न करेंगे। परन्तु जब इस युक्ति के अनुसार कार्य करने का अवसर आएगा, तो उनका साहस कम हो जाएगा। वह सोचेंगे कि बच्चों को इस प्रकार शिक्षा नहीं दी जा सकती। यह अत्यन्त असम्भव बात है। और यह बात है भी सत्य। यह लोग जिसे शिक्षा कहते हैं, वह वास्तव में इस प्रकार नहीं दी जाती। कुछ पुस्तकें तथा विषय निर्धारित कर देना और निश्चित समय के अन्दर एक निश्चित रीति से परीक्षा लेना—इसी को वह लोग विद्या सिखाना समझते हैं और जहाँ इस प्रकार से शिक्षा दी जाती है, उस स्थान को विद्यालय कहते हैं। उनकी बुद्धि के अनुसार जैसे शिक्षा कोई पृथक वस्तु है। यदि उसे देखना हो तो उनके विचार में बच्चे के मन से पृथक, कुछ अन्तर पर—देखना चाहिए। अर्थात् पुस्तकों के पृष्ठों तथा उनके शब्दों की संख्या की गणना करके उसकी शिक्षा का अनुमान लगाना चाहिए। चाहे इस शिक्षा से विद्यार्थियों का मन पिस जाए, चाहे वे पुस्तकों के दास बन जाएँ—चाहे उनकी व्यक्तिगत बुद्धि पर पर्दा पड़ जाए, चाहे वे अपनी प्राकृतिक शक्तियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता को अपने अभ्यास तथा पुस्तकों के कष्ट दायक शासन की कृपा से सदा के लिए छोड़ बैठें। परन्तु आश्चर्य यह है कि फिर भी इसे शिक्षा ही कहेंगे।

बच्चों का मन जितनी विद्या को ग्रहण कर सके उतनी ही शिक्षा—चाहे वह कितनी थोड़ी क्यों न हो—सच्ची शिक्षा है। और जो व्यर्थ शिक्षा उनके मन को ढाँप देती है, उसे पढ़ाई

तो कह सकते हैं परन्तु विद्या नहीं कह सकते । ईश्वर ने जान लिया था कि मनुष्य अपने ऊपर ही अत्याचार करेगा । इसलिए उसने मनुष्य को सुदृढ़ बनाया था । यही कारण है कि वह अपच भोजन खाकर अजीर्ण का कष्ट भोगकर भी बचा रहता है । और बचपन से ही शिक्षा प्रणाली का असह्य कष्ट भोगकर भी बहुत-सी विद्या ग्रहण कर लेता है और उस पर अभिमान करने लगता है । सारांश यह है कि हमारी शिक्षा प्रणाली इतनी व्यर्थ तथा कष्टदायक है कि उसके प्रभाव में आकर हमारी मस्तिष्क सम्बन्धी शक्तियों का जीवित रहना ही कठिन था । परन्तु परमात्मा ने हमारी यह शक्ति इतनी सुदृढ़ बनाई है कि इन सब बातों के होने पर भी इस दशा में भी, हम थोड़ी बहुत विद्या सीख ही लेते हैं । बहुत से लोग इस बात को कदापि नहीं समझते कि इस प्रकार काटने तथा पीसने से कितनी हानि उठानी पड़ती है । कुछ लोग ऐसे हैं जो बात को समझते हैं, परन्तु स्वीकार नहीं करते । और बहुत से मनुष्य ऐसे भी हैं जो समझते भी हैं, और मानते भी हैं परन्तु प्रयोग करने के समय जिस प्रकार पहले चलता आ रहा है, उसी प्रकार चलाए जाना उचित समझते हैं । लकीर के फकीर बने रहते हैं ।

□ □

रवीन्द्र साहित्य
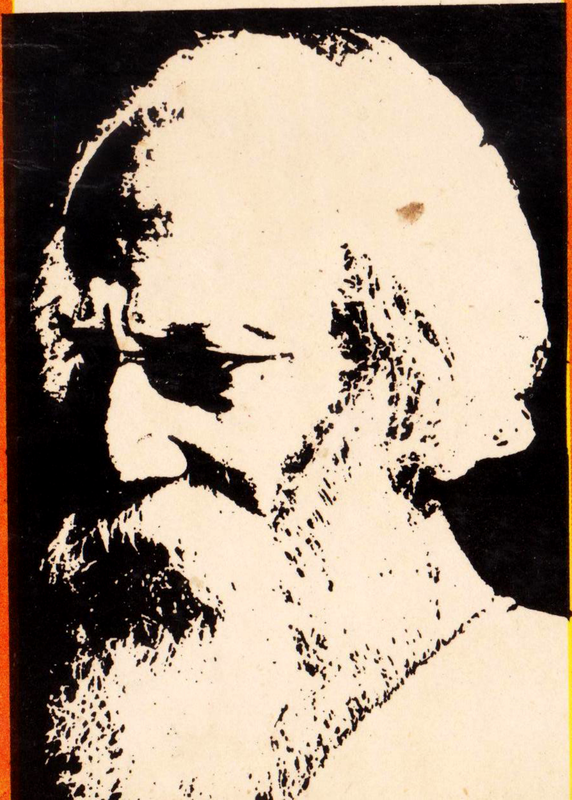
सुरुचिपूर्ण सजीव
भारतीय जीवन दृष्टि
का साहित्य पढ़िए
और इष्ट मित्रों को
उपहार में भेंट
दीजिए।